ओ३म्

अथ वेदान्तदर्शनम्

वेदान्तदर्शन शारीरक सूत्रों पर श्री स्वामी शङ्कराचार्यादि अनेक विद्वानों के संस्कृत में ही नहीं, किन्तु अङ्गरेज़ी आदि प्रायः सर्व देशों की भाषाओं में टीका अनुवाद और भाष्य छपे हैं, किन्तु श्री शङ्कराचार्य के ही प्रायः सब भाष्य अनुगामी हैं। केवल श्री रामानुज के श्रीभाष्य में और तदनुयायी कतिपय भाष्यों में अवश्य भेद है। इस दशा में द्वैत और अद्वैत के विवाद और खेंचतान ने व्यासदेव=ग्रन्थकार का स्वतन्त्र तात्पर्य क्या था, उस को कई स्थानों में सर्वथा दूर छोड़ दिया है। वेदान्त के अधिकरण सब स्वामी शङ्कराचार्य ने बनाये, पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष भी उन्हों ने कल्पना किये, पीछे सब भाष्यकार उसी मार्ग पर चले, इस में स्वतन्त्र सूत्रार्थविचार कहीं जगह किया नहीं गया। हमारा सङ्कल्प यह है कि किसी भी भाष्यकार के बन्धन में न रहकर जो कुछ मूल सूत्र के आधार पर सूझेगा, तदनुसार भाष्य किया जावेगा। इस लिये पढ़ने वाले कई स्थानों पर अन्य भाष्यों का अनुसरण न पाकर चकित न हों॥

इस दर्शन में चार अध्याय और प्रति अध्याय में ४ पाद करके सब १६ पाद हैं। अध्यायों और पादों के कारण जो प्रकरणबन्धन है, वह अवश्य व्यासदेव कृत है, अतः उस बन्धन का उल्लङ्घन नहीं किया जायगा॥

आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला पूना के छपाये शङ्करभाष्य और आनन्दगिरि-कृत "न्यायनिर्णय" टीका के पुस्तक में अन्य अनेक लिखित और मुद्रित पुस्तकों के पाठों की देखभाल अधिक पाई जाती है, अतः उस को तथा अपने कई पुस्तकों को देखकर यह भाषानुवाद और भाष्य लिखा जायगा॥

१।४।१२ तुलसीराम स्वामी—मेरठ

ओ३म्

अथ प्रथमोऽध्यायः

तत्र

प्रथमः पादः

॥ १ ॥

ब्रह्म की विचारणीयता—

१—अथातोब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) शमदमादिसाधनसंपन्न होने के पश्चात् (अतः) इस के आगे (ब्रह्मजिज्ञासा) ब्रह्म के जानने की इच्छा [होनी चाहिये] ॥

भावार्थः-जब मनुष्य शमदमादिसाधनसंपन्न हो तब अधिकारी होता है कि ब्रह्म की खोज करे ॥ १ ॥

ब्रह्म लक्ष्य है—

२—जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

पदार्थः—(यतः) जिस के होने से (अस्य) इस [जगत्] के (जन्मादि) जन्मादि होते हैं [वह ब्रह्म है] ॥

जिस के विना जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलय नहीं हो सकते, जिस के होने से ही जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय होते हैं, वह वस्तु ब्रह्म है ॥ २ ॥

३—शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(शास्त्रयोनित्वात्) वेद [शास्त्र] का कारण होने से [पाया जाता है कि सब जगत् के स्थूल सूक्ष्म पदार्थों का, तथा सब विद्याओं के बीजरूपभण्डार वेद शास्त्र का कर्त्ता वा प्रकाशक ब्रह्म है] ॥ ३ ॥

४—तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(तत्) वह [ब्रह्म] (तु) तो (समन्वयात्) वेदान्तवाक्यों के साथ समन्वय से [सिद्ध है] ॥

भावार्थः-वेदान्तादि शास्त्र (उपनिषदादि) में उस ब्रह्म को शास्त्र (वेद) का कारण बताया है, इस कारण उन वाक्यों का समन्वय (साथ मिलान) तभी होता है जब कि पूर्वसूत्रोक्त ब्रह्म को वेद की योनि माना जावे ॥ ४ ॥

५-ईक्षतेर्नाऽशब्दम् ॥ ५ ॥

पदार्थः-(ईक्षतेः) ईक्षण क्रिया से (अशब्दम्) शब्दप्रमाणरहित (न) नहीं है ॥

भावार्थः-ब्रह्म को जगत् और वेद का कर्त्ता वा प्रकाशक मानने में शब्द प्रमाण का विरोध नहीं, क्योंकि " स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति " ऐतरेय १-१ अर्थात् उस ने विचारा कि लोकों को रचूं । इस प्रकार के शब्द प्रमाणों से पाया जाता है कि जगत् और वेद का कर्त्ता ब्रह्म जड़ नहीं, विचारवान्, ज्ञानवान् है ॥ ५ ॥

यदि कहो कि गौणवृत्ति से प्रकृति को चेतन मान कर प्रकृति में ही ईक्षणक्रिया घट सकती है, उसी को जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कर्त्ता क्यों न मान लें ? तो उत्तर-

६-गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (गौणः) गौण प्रयोग माने तो (न) नहीं, क्योंकि (आत्मशब्दात्) ईक्षण क्रिया के प्रकरण में आत्मा शब्द प्रयुक्त है ॥

भावार्थः-छान्दोग्य में जहां जगत्कर्त्ता को ईक्षिता (विचार करने वाला) कहा है, वहां "आत्मा" शब्द स्पष्ट कहा है, इस कारण अनात्मा अचेतन प्रकृति जगत्कर्त्ता नहीं जान पड़ती । अर्थात् जैसा जल और अग्नि को जड़ होने पर भी ईक्षण वाला गौणार्थ से कह दिया जाता है, इसी प्रकार गौणार्थ को लेकर अचेतन प्रकृति में भी चेतन का व्यवहार करके उस में ईक्षण क्रिया घट सकती है, परन्तु उस प्रकरण में तो स्पष्ट " आत्मा " शब्द आया है, प्रकृति आत्मा नहीं कही जा सकती, अतएव वहां ईक्षण क्रिया की कर्त्री प्रकृति नहीं होसकती । देखिये " तत्तेजोऽसृजत " छान्दोग्य ६ । २ । ३ यहां कहा है कि उस ब्रह्म ने तेज को उत्पन्न किया ।

आगे चलकर यहीं कहा है कि " सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि " छां० ६ । ३ । २ अर्थात् उस देवता (परमात्मा) ने विचारा कि मैं इन तीनों देवतों (तेज, अप्, अन्न) में इस जीवात्मा के साथ अनुप्रवेश करके नामरूपों को प्रकट करूं । इस में स्पष्ट है कि परमात्मा (ब्रह्म) ने यह विचार करके सृष्टि रची कि मैं अग्नि जल अन्न में जीवात्मा को प्रवेश कराकर और उस जीवात्मा में भी स्वयं अनुप्रवेश करके देवदत्तादि नाम और गौर कृष्णादि रूप वाले जगत् को रचूं । यदि गौण वृत्ति से ईक्षण क्रिया का कर्त्ता प्रकृति को कहा होता और उसी को देवता कहा होता और उसी ने जगत् रचनादि क्रिया कहा होता तो आत्मा शब्द न आता । (जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता० शङ्करभाष्य) अर्थात् जीव उस वस्तु का नाम है जो चेतन, शरीर का अध्यक्ष, प्राणों का धारण करने वाला है । वह एक शरीर का आत्मा है, प्रति शरीर उस आत्मा (जीव) को प्रवेश कराकर फिर परमात्मा (ब्रह्म) ने जो सारे जगत् का परम आत्मा=बड़ा जीव है, उस ने स्वयं आप अनुप्रविष्ट हुवे ने नाना नाम रूप वाला जगत् रचा ॥

भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि आत्मा नाम स्वरूप का है, भला अचेतन प्रकृति का स्वरूप चेतन आत्मा कैसे हो सकता है । अतःचेतनब्रह्म मुख्यरूप से ईक्षति क्रिया का कर्त्ता है, वह आत्मा=परमात्मा है, दूसरा आत्मा=जीवात्मा भी चेतन है । यथा शङ्करभाष्य "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदंसर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" छान्दोग्य ६ । ८ । ७ वह जो कि अणु (परिच्छिन्न वा एकदेशीय) आत्मा है, वह इस जगत् के सब प्राणियों का आत्माहै, वह सत्य है, वह आत्मा=चेतन=सचित्है, हे श्वेतकेतु ! तू वह है ॥

अग्नि जलादि तो इन्द्रियों के विषय अचेतन जड़ अनात्मा हैं, प्राकृत हैं, वे ईक्षणकर्त्ता नहीं हो सकते, किन्तु आत्मा=परमात्मा=ब्रह्म ही हो सकता है जो सब का एक आत्मा है । जीवात्मा तो अणु और केवल एक शरीर का अध्यक्ष है, वह भी सर्व जगत् के महाकार्य का कर्त्ता नहीं हो सकता ॥६॥

यदि कहो कि अचेतन प्रकृति भी आत्मा के सारे अधिकार रखने वाली हो तो वह भी जगत्कर्त्ता आदि मानी जा सकती है, जबकि प्रकृति योग शास्त्रानुसार भोगापवर्ग का साधन है, तो वही क्यों न आत्मा शब्द से ग्रहण की जावे ? उत्तर—

७–तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

पदार्थः–(तन्निष्ठस्य) ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को (मोक्षोपदेशात्) मुक्ति का उपदेश होने से ॥

भावार्थः–शास्त्र में प्रकृतिनिष्ठ पुरुष को मोक्षोपदेश नहीं पाया जाता, किन्तु ब्रह्मनिष्ठ को है, यथा-तमेव विदित्वाति मृत्युमेति (यजुर्वेद ३१। १८) इस लिये आत्मा शब्द से प्रकृति का ग्रहण नहीं होसकता ॥ ७ ॥

८–हेयत्वाऽवचनाच्च ॥ ८ ॥

पदार्थः-(हेयत्वावचनात्) त्याज्य भाव के न कहने से (च) भी ॥

भावार्थः–आत्मा को मुक्तिदाता न समझते तो त्याज्य बताते, त्याज्य भी नहीं बताया, इस से भी पाया जाता है कि आत्मा शब्द से उस छान्दोग्य के प्रकरण में मर्वाधिकारी मान कर भी प्रकृति के स्थान में आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं है ॥ ८ ॥ तथा–

९–स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

पदार्थः–(स्वाप्ययात्) अपने प्रलय से ॥

भावार्थः–जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय कर्त्ता स्वयं प्रलय को प्राप्त नहीं होना चाहिये, जो प्रलय करे, वह प्रलीन से भिन्न होना चाहिये। प्रकृति प्रलय की कर्त्री होती तो जिस का प्रलय करती, उस से भिन्न होती, परन्तु स्वयं प्रकृति में सारा जगत् लीन होता है, इस से पाया जाता है कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कर्त्ता ब्रह्म है, न कि प्रकृति ॥

स्वामी शङ्कराचार्य ने सूत्राक्षरों के सीधे अर्थ को छोड़ कर "स्वपिति" के निर्वचन करने वाली श्रुति छान्दोग्य से उठाकर नई कल्पना उठाली है, जिस की सूत्रार्थ के सरल अर्थ में कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वास्तव में व्यासदेव को यदि जगत् का मिथ्यात्व इष्ट होता तो प्रथम ही दूसरे सूत्र में "जन्माद्यस्य" क्यों कहते ॥ ९ ॥ तथा–

१०–गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

पदार्थः–(गतिसामान्यात्) गति में समानता से ॥

भावार्थः-जो गति उत्पत्ति स्थिति प्रलय वाले जगत् की है, वही गति (प्रकृति को कर्त्ता मान लें तो) कर्त्ता की हो जायगी । इस लिये प्रकृति को कर्त्ता नहीं मानना चाहिये ॥

इस सूत्र के भी सरलार्थ को छोड़ कर "वेदान्तवाक्यों की समानगति चेतन कारणवाद में पाई जाती है" इस आशय को खैंचकर लगाना और अन्य न्यायादि शास्त्रों की निन्दा करना, शङ्कराचार्य जी को सूत्रार्थ लगाने में प्रयोजनीय न था । परन्तु उन को अपने अभिमत अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवाद की रक्षार्थ सर्वत्र पहले ही से तैयारी रखनी थी, इस लिये न्याय सांख्यादि में उपादान कारण प्रकृति को माना है और ठीक माना है, उस का विरोध करना श्री शङ्कराचार्य को स्वमतरक्षार्थ आवश्यक जान पड़ा ॥ किन्तु हम तो न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त सभी दर्शनों को वेद के सामने शिर झुकाता हुवा, परस्पर अविरुद्ध पाते हैं, तब अपनी खैंचतान से क्यों पहले ही से बान्ध बांधें ॥ १० ॥ तथा-

११-श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

पदार्थः-(च) और (श्रुतत्वात्) श्रुतिप्रतिपादित होने से ॥

श्रुतियों में परमात्मा को जगत् का कर्त्ता हर्त्ता धर्त्ता बताया है, न कि प्रकृति को । यथा "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । ९ इस कारण प्रकृति को स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं कह सकते ॥ ११ ॥ तथा-

१२-आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

पदार्थः-(अभ्यासात्) बारंबार कथन से (आनन्दमयः) आनन्दस्वरूप है ॥

श्रुतियों में आनन्दस्वरूप परमात्मा का बारंबार वर्णन किया है, अतएव जड़ प्रकृति जगत् की कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता नहीं । यथा-

१-तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः तै० २ । १ । ५

२-रसो वै सः ॥ तैत्ति० २ । ७

३-रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ॥ तै०
४-कोह्येवाऽन्यात् कः प्राण्यात् । य एष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ॥ तैत्ति० २ । ७
५-सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति । तैत्ति० २ । ८
६-आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥ तै०२।९
७-आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ॥ तैत्ति० ६३ । ६
८-विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ॥ बृह० ३ । ९ । २८

अर्थः-

१-उस विज्ञानमय आत्मा से अन्य उस के भी भीतर व्यापक आनन्दमय परमात्मा है ॥

२-वह (परमात्मा) रस=आनन्दस्वरूप है ॥

३-क्योंकि रस=आनन्दस्वरूप को ही पाकर यह (जीवात्मा) आनन्दी होता है ॥

४-जो यह आकाश में आनन्दस्वरूप (परमात्मा) न हो तो कौन जी सके, कौन प्राण धारण कर सके । यही आनन्द देता है ॥

५-वह यह आनन्दरूप (परमात्मा) की मीमांसा है ॥

६-ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का जानने वाला किसी से नहीं डरता ॥

७-(उस ने) जाना कि ब्रह्म आनन्दरूप है ॥

८-ब्रह्म ज्ञानरूप और आनन्दरूप है ॥

इत्यादि प्रकार से बार २ परमात्मा को आनन्दस्वरूप कहा है, वही मोक्षदाता है, वही जगत्कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता है, प्रकृति नहीं ॥ १२ ॥

१३-विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (विकारशब्दात्) आनन्दमय शब्द में विकारार्थक मयट् प्रत्यय से (इति) ऐसा कहो कि (न) जगत्कर्त्ता परमात्मा निर्विकार न रहेगा, सो (न) नहीं क्योंकि (प्राचुर्यात्) प्रचुर अर्थ में मयट् प्रत्यय होने से ॥

भा०-पूर्व १२ वें सूत्र में 'आनन्दमय' कहा गया था। उस पर यह शङ्का हो सकती थी कि "आनन्दमय" शब्द में आनन्द शब्द से मयट् प्रत्यय का अर्थ (तस्य विकारः ४।३।१३४ अवयवेच प्राणयो० ४।३।१३५ से अनुवृत्ति-पूर्वक-मयड्वैतयोर्भा० ४।३।१४३ के अनुसार) विकार है, तब आनन्दमय शब्द विकारवाचक होगा, तब क्या परमात्मा को विकारी माना जावे ?

उत्तर-नहीं क्योंकि—तत्प्रकृतवचने मयट् (पा० ५।४।२१) सूत्र में बाहुल्यार्थ में भी मयट् प्रत्यय होता है, तदनुसार आनन्दमय शब्द का अर्थ यह है कि जिस में बहुत=अनन्त आनन्द है, वह परमात्मा 'आनन्दमय' है ॥१३॥

१४-तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पदार्थः-(तद्धेतु०) आनन्द का हेतु कहा होने से (च) भी ॥

भावार्थः-एषह्येवानन्दयाति (तैत्ति० २-७) इत्यादि श्रुतियों में उस परमात्मा को आनन्ददाता कहा गया है, इस से भी आनन्दमय का अर्थ विकारवान् नहीं, किन्तु बहुत आनन्दस्वरूप ही है ॥ १४ ॥

१५-मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

पदार्थः-(च) और (मान्त्रवर्णिकम्) मन्त्रसंहिता के अक्षरानुसार (एव) ही (गीयते) उपनिषदादि से गाया गया है ॥

भा०-नमः शंभवाय च मयो भवाय च० यजुः १६।४१ इत्यादि वेद मन्त्रोंमें सुखस्वरूप=आनन्दस्वरूप परमात्माका वर्णन देखकर ही उपनिषदादि अन्य ग्रन्थों ने परमात्मा के आनन्दस्वरूप का गान किया है ॥ १५ ॥

यदि कहो कि अच्छा जगत्कर्त्ता जड़ प्रकृति न सही, आत्मा ही सही, परन्तु आत्मा से जीवात्मा का ग्रहण तो कर सकते हैं, तब क्या जीवात्मा को भी जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता मानोगे ? उत्तर-

१६-नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

पदार्थः-(इतरः) दूसरा आत्मा=जीवात्मा (न) नहीं, क्योंकि (अनुपपत्तेः) उपपत्ति न होने से ॥

भा०-जीवात्मा आनन्दमय होता तो दुःखी न पाया जाता। दुःखी भी पाया जाता है, इस लिये जीवात्मा में आनन्दमय होना उपपन्न=सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

यदि कहो कि आत्मा तो एक ही है, जो जीवात्मा है, वही परमात्मा है, तब क्यों न जीवात्मा को भी आनन्दमय मान कर और दुःखादि को औपाधिक अन्तःकरणधर्म मानकर जगत्कर्त्ता मानने में क्या दोष है? उत्तर-

१७-भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

पदार्थः-(भेदव्यपदेशात्) भेदकथन से (च) भी ॥

भावार्थः-आनन्दमय के प्रकरण में तै० २ । ७ में यह कहा है कि "रसो वै सः रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" अर्थ-वह (परमात्मा) आनन्दरूप है, आनन्दरूप को पाकर ही यह (जीवात्मा) आनन्दी होता है । इत्यादि श्रुतियों में इस (जीवात्मा) का उस (परमात्मा) से भेद कथन किया है, इस लिये आत्मा दोनों एक नहीं ॥

स्वामी शङ्कराचार्य ने सूत्रार्थ और उपनिषदर्थ के स्पष्ट होने पर भी वृथा भ्रम को पूर्व पक्ष में धर कर "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" वृह० ३ । ७ । २३ को बीच में धर कर जीव को अविद्याकल्पित लिख कर उस कल्पित से परमात्मा का भेद इस सूत्र का व्याख्यान कर डाला है, सो सूत्रार्थ के लिये आवश्यक नहीं । वृहदारण्यक के वचन का अर्थ यह है कि जो त्वगादि सप्त धातुओं में रहता हुआ पर इन सब से भिन्न इस शरीर में अन्तर्यामी होकर वर्त्तमान है, वही आत्मा है, इससे अन्य (शरीर के धातुओं) को द्रष्टा श्रोता आदि मत जानो । इस श्रुति को यहां लिखने की सूत्रार्थ के लिये कोई आवश्यकता न थी ॥१७॥

१८-कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

पदार्थः-(कामात्) कामना से (च) भी (अनुमानापेक्षा) अनुमान करने की अपेक्षा (न) नहीं है ॥

आनन्दमय के प्रकरण में कामना पाई जाती है अर्थात्-"सोऽकामयत" उस ने चाहा कि प्रजा रचूं । इस में आनन्दमय जगत्कर्त्ता चेतन सिद्ध होता है, जड़ में चाहना=कामना नहीं बनती । इस लिये यह अनुमान कल्पना करने की अपेक्षा भी नहीं रहती कि अचेतन में ही आनन्द का आरोप कर लिया होगा ॥ १८ ॥ तथाः-

१९-अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

पदार्थः-(च) और (अस्मिन्) इस परमात्मा में (अस्य) इस जीवात्मा के (तद्योगं) उस से योग को (शास्ति) शास्त्र कहता है ॥

शास्त्र कहता है कि आनन्दमय परमात्मा से योग (मेल) पाकर जीवात्मा भी आनन्द पाता है। इस से पाया जाता है कि ब्रह्म भी जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण नहीं, किन्तु केवल निमित्त और भिन्नस्वरूप से कारण है ॥ १९ ॥

२०—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

पदार्थः—(तद्धर्मोपदेशात्) उस के धर्म उपदेश से (अन्तः) अन्तर्वर्ती है ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानः (यजुः अ० ३१) इत्यादि में प्रजापति का धर्म इस जगत् का अन्तर्वर्त्ती होना बताया है, अतएव जगत् का कर्त्ता जगत् के अन्तर् (भीतर) वर्त्तमान है, जगत् से बाहर भिन्न देशवर्ती नहीं ॥ २० ॥

२१—भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

पदार्थः-(च) और (भेदव्यपदेशात्) भेद करके कहा होने से (अन्यः) अभिन्न नहीं, किन्तु भिन्नस्वरूप है ॥

जगत् के कर्त्ता को आदित्य, पृथिवी, चन्द्र, मनु, वाणी, आत्मा में भीतर व्यापक, आदित्यादि से भिन्न पदार्थ कहा गया है, इस लिये अभिन्न निमित्तोपादान कारण नहीं, किन्तु भिन्न निमित्त कारण है। देखो बृहदा० ३ । ७ "य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि ॥ २१ ॥

२२—आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

पदार्थः-(तल्लिङ्गात्) ब्रह्म के लिङ्ग [पहचानें] पाये जाने से (आकाशः) आकाश नाम भी परमात्मा का है ॥

इस सूत्र का शङ्करभाष्य देखने योग्य है। आकाश शब्द से भूताकाश के ग्रहण की शङ्कायें की गई हैं और फिर अपने प्रगल्भपाण्डित्यबल से उपनिषदों के अनेक वचन उद्धृत करके सिद्ध किया है कि जगत् के उत्पादकत्व से जहां आकाश शब्द का प्रयोग है, वहां परमात्मा का ही नाम आकाश है ॥ २२ ॥

२३—अतएव प्राणः ॥ २३ ॥

पदार्थः—(अतः) इस कारण से (एव) ही (प्राणः) प्राण भी कहाता है ॥

आकाश के समान व्यापक होने से जैसे आकाश परमात्मा का नाम है, इसी प्रकार प्राण के समान जीवनमूल होने से, परमात्मा का नाम प्राणभी है॥२३॥

२४—ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(चरणाभिधानात्) पादकल्पनापूर्वक कथन से (ज्योतिः) ज्योति [भी परमात्मा का ही नाम है] ॥

पादोऽस्य विश्वाभूतानि (यजुः ३१। ३) तथा पादोस्य सर्वाभूतानि (छा० ३। १२। ६) इत्यादि वाक्यों में सब भूतों को परमात्मा का १ पादरूप कहा गया है, तब उत्पत्तिप्रकरण में ज्योति शब्द से अग्नि का ग्रहण नहीं, किन्तु ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का ग्रहण है क्योंकि भौतिक ज्योति जगत् का कर्त्ता नहीं, किन्तु जगत् के अन्तर्गत उत्पन्न पदार्थ है ॥ २४ ॥

२५—छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतो ऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि कहो कि (छन्दोभिधानात्) छन्द का नाम होने से (न) [परमात्मा का ग्रहण] नहीं, सो (न) नहीं, क्योंकि (तथा) इसी प्रकार (चेतोर्पणनिगदात्) मन के अर्पण करने के कथन से (तथा हि) ऐसा ही (दर्शनम्) देखा जाता है ॥

छान्दोग्यमें चतुष्पाद् कथन(तावानस्य…त्रिपादस्यामृतं दिवि)में गायत्री का प्रकरण है। गायत्री एक छन्द का नाम है। तब चरण (पाद) कल्पना तो गायत्री छन्द की है, न कि परमात्मा की ? क्योंकि छा० में उस से पूर्व यह प्रकरण है कि "गायत्री वा इदं सर्वं०० सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री, तदेतदृचाभ्यनूक्तम्—तावानस्येत्यादि" इस शङ्का का उत्तर यह है कि गायत्री नामक छन्द के द्वारा तदनुगत परमात्मा में चित्त=मन वा बुद्धिवृत्ति का अर्पण=लगाना कथन किया है, अतएव पादकल्पना गायत्री छन्द की नहीं, किन्तु परमात्मा की है। गायत्री तो २४ अक्षर में परिमित है, जिस के ६। ६

अक्षर के पाद मान कर ४ पाद होते हैं, वह सर्वात्मक (यदि छन्दोवाचक समझें तो) नहीं हो सकती ॥ २५ ॥ तथा—

२६—भूतादिपादोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(भूतादिपादोपपत्तेः) भूतादि पाद की उपपत्ति से (च) भी (एवम्) यही पाया जाता है कि [परमात्मा की पादकल्पना है, छन्द की नहीं] ॥

जिस (तावानस्य०) मन्त्र का उदाहरण दिया है, उस में अक्षरों के पाद नहीं गिनाये, किन्तु सब भूतों को १ पाद कहा है। इस से भी स्पष्ट है कि गायत्री छन्द के वर्णात्मक पाद विवक्षित नहीं, किन्तु परमात्मा के १ पाद (एक देश) में सभी भूतमात्र का संनिवेश कहा गया है ॥ २६ ॥

२७—उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यऽविरोधात् ॥ २७ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि कहो कि (उपदेशभेदात्) उपदेश में भिन्नता से (न) परमात्मा की विवक्षा नहीं जान पड़ती, सो (न) नहीं, क्योंकि (उभयस्मिन्) दोनों उपदेशों में (अपि) भी (अविरोधात्) विरोध नहीं ॥

यद्यपि उपदेश दो प्रकार का है। १—यह कि "त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" यजु ३१। ३ इस में तो द्युलोक में अर्थात् द्युलोक के भीतर परमात्मा अमर कहा है और २—यह कि "अथ यदतः परोदिवः" परमात्मा इस द्युलोक परे है। ये दोनों बातें परस्परविरुद्ध प्रतीत होती हैं। उत्तर—दोनों में विरोध नहीं। क्योंकि परमात्मा द्युलोक पर्यन्त सब जगत् के भीतर है, परन्तु भीतर ही समाप्त नहीं, किन्तु बाहर भी है। जैसा कि " तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतः " यजुः ४०। ५ ईशोपनिषद् १। ५ अर्थात् वह इस सबके भीतर और वही बाहर भी है ॥ २७ ॥

शङ्कराचार्यमतानुसार यहां ज्योतिः शब्दवाच्यता का अधिकरण पूर्ण होगया ॥

२८—प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २८ ॥

पदार्थः—(तथा) इसी प्रकार (अनुगमात्) समझाजाने से (प्राणः) प्राणशब्द [का वाच्य भी परमात्मा] है ॥

"स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः" (कौ० ३ । ८) इत्यादि वाक्यों में आनन्दस्वरूप, अजर, अमर' इत्यादि विशेषण पाये जाते हैं । अत एव प्राण शब्द यहां परमात्मवाचक है ॥ २८ ॥

२९–न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्म सम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि कहो कि (वक्तुरात्मोपदेशात्) वक्ता के आत्मा का उपदेश होने से [इन्द्र का वाचक प्राण शब्द जान पड़ता है, सो] (न) नहीं, क्योंकि (अध्यात्मसंबन्धभूमा) अध्यात्मप्रकरण की बहुलता (हि) ही (अस्मिन्) उस अध्याय में कही है ॥

एष एव प्राणः (कौ० ३ । ८) के अध्याय में अध्यात्मप्रकरण ही बहुधा पाया जाता है, इस कारण प्राण शब्द से यहां परमात्मा का ही ग्रहण है, इन्द्र=बलाधिष्ठाता भौतिक वायुविशेष का नहीं ॥ २९ ॥

३०–शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

पदार्थः-(शास्त्रदृष्ट्या) वैदिक शैली से (तु) तो (वामदेववत्) वामदेव के समान (उपदेशः) कथन किया गया है ॥

इन्द्र शब्द अपने प्रकरण में परमात्मा का वाचक है, यौगिकार्थ से । जैसे वैदिक शैली में वामदेव शब्द यौगिकार्थ से परमात्मा का नाम आता है, उसी वैदिक शैली से इन्द्र शब्द भी परमात्मा का वाचक समझो ॥

जिस प्रकार २२ वें सूत्र में आकाश, २३ वें में प्राण, २४ वें में ज्योतिः, २८ वें में प्राण नाम से परमात्मा का ग्रहण है, इसी प्रकार २९ वें में इन्द्र नाम परमात्मा का है, उस में व्यक्तिविशेष का अर्थ न लेने के लिये ३० वें इस सूत्र में वैदिक वामदेव शब्द का उदाहरण दिया है । जब कि शङ्करभाष्य आकाशादि शब्दों का यौगिकार्थ लेकर परमात्मा अर्थ ग्रहण करता है, तब वामदेव और इन्द्र शब्दों से भी यौगिकार्थबल से परमात्मा अर्थ लगाना कुछ असङ्गत नहीं कहा जा सकता ॥

उणादिकोष–अर्त्ति स्तु सु हु सृ धृ क्षि क्षु भा या वा पदि यक्षि नीभ्यो मन् १ । १४० सूत्र से "वा गतिगन्धनयोः" धातु से मन् प्रत्यय लगाकर वाम

शब्द बना है, जिस में गति का ज्ञान अर्थ लेकर ज्ञानवान् देव=परमात्मा को वामदेव कहा जानिये । अमरकोष-तृतीय काण्ड ३ वर्ग नानार्थ ३ में १४४ वें। श्लोक में भी कहा है कि—

वामौ वल्गुप्रतीपौ द्वौ

तदनुसार भी चारु=उत्तम देव को वामदेव कहते हैं । तथा अमरकोष काण्ड १ वर्ग १ श्लोक ३४ में भी—

वामदेवो महादेवः

कहा है । कोई देव परमात्मा से बड़ा नहीं, बस बड़े देव महादेव परमात्मा का नाम वामदेव बनता है । रहा यह कि वृहदारण्यक १ । ४ । १० में तो वामदेव के साथ ऋषि, मनु, सूर्य शब्द भी आये हैं, वहां परमात्मा का ग्रहण कैसे होगा । यथा—

तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे
ऽहंमनुरभवं सूर्यश्च (इत्यादि)

इस का उत्तर यह है कि वेदोपदेशक होने से ऋषि, ज्ञानी होने से मनु, प्रकाशक होने से सूर्य नाम भी परमात्मा का है । इस विषय में मनुस्मृति १२ । १२३ में भी कहा है कि—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

इस परमात्मा को कोई अग्नि, कोई " मनु ", कोई प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई ब्रह्म कहते हैं । इसी प्रकार—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो
गुरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं
मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥

एक ही सत्स्वरूप परमात्मा को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गुरुत्मान्, अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं ॥ यही बात यहां वेदान्त सूत्रों में २२ वें सूत्र से यहां तक कहते आते हैं ॥ ३० ॥

३१—जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासा त्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि कहो कि (जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्) जीव और मुख्य प्राण की पहचान से (न) परमात्मा का ग्रहण नहीं, तो (न) नहीं क्योंकि (उपासात्रैविध्यात्) तीन प्रकार की उपासना होने से, (आश्रितत्वात्) आश्रित होने से, और (इह) इस=जीव और मुख्यप्राण में (तद्योगात्) उस=परमात्मा का योग होने से ॥

इन्द्र शब्द से जीव का या मुख्य प्राणवायु का ग्रहण करने की शङ्का कोई लोग कर सक्ते हैं क्योंकि जीव की पहचान तो इस प्रकरण में यह है कि "न वाचंविजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" वाणी को जानने की इच्छा न करनी चाहिये, प्रत्युत 'बोलने वाले' को जानना चाहिये। इस से जीव का प्रकरण पहचान पड़ता है । और " अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" प्राण ही प्रज्ञा है, वही इस शरीर को पकड़कर उठाता है। इस से यहां प्राणवायु का प्रकरण पहचान पड़ता है, अतः परमात्मा का ग्रहण नहीं। यह सूत्र के पूर्वार्ध से पूर्व पक्ष हुवा, उत्तरार्ध से उत्तर पक्ष यह है कि तीन प्रकार की उपासना कही हैं, १ परमात्मा को जीवनाधार जान कर, २-उसी को शरीर का उठाने वाला जान कर और ३—उसी को इन्द्र= परमैश्वर्यवान् जानकर, इस लिये यहां "बोलने वाले" का अर्थ भी परमात्मा है, जीवात्मा नहीं, जैसा कि "वाचोह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः" (केन १।२) वह परमात्मा वाणी की वाणी और प्राण का भी प्राण है। तथा शरीर के उठाने चलाने जिवाने वाला कहने से भी परमात्मा का ही तात्पर्य है, प्राण वायु का नहीं, जैसा कि कठोपनिषद् २।५।५ में कहा है कि-

> न प्राणेन नाऽपानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
> इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

न तो प्राणवायु से कोई जीवता है, न अपान से, किन्तु और ही से सब जीवते हैं, जिस परमात्मा के कि ये (प्राण अपान) आश्रित हैं। इस लिये सूत्र में "आश्रितत्वात्" हेतु दिया है । तथा तीसरा हेतु यह दिया है कि जीवात्मा और प्राण में अन्तर्यामी परमात्मा का योग है, इस से ये अपना

काम करने में समर्थ होते हैं। यथा—यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। केनोपनिषद् १। ८ इत्यादि में प्राण वाणी मन आदि सब के भीतर व्यापक परमात्मा का ही सामर्थ्य वर्णन करके उसी की उपासना विहित है ॥ ३१ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते
वेदान्तदर्शनभाषानुवादे प्रथमाऽध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥ १ ॥

—*—

ओ३म्

अथ प्रथमाऽध्यायस्य

द्वितीयः पादः

प्रथम पाद में " जन्माद्यस्य० " इत्यादि सूत्रों से आकाशादि समस्त जगत् का उत्पादक कारण ब्रह्म को बता कर, उस ब्रह्म की व्यापकता, नित्यता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वात्मता, इत्यादि धर्म बताये गये और आकाश वायु शब्द जो अन्य अर्थों में प्रसिद्ध हैं, उन शब्दों से अपने प्रकरण में ब्रह्म अर्थ लेने की पुष्टि हेतुपूर्वक की गई। जिस से सन्देहयुक्त स्थलों में स्पष्ट स्थलों और स्पष्ट शब्दों के योग से आकाशादि शब्दों का अर्थ=परमात्मा होना सिद्ध किया गया। परन्तु अन्य भी अनेक शब्द ऐसे सन्देहयुक्त उपनिषदादि में वा वेद में आते हैं जिन का अर्थ=परमात्मा न समझ कर लोग भ्रम में पड़ते हैं वा पड़ सकते हैं, उस सन्देह की निवृत्त्यर्थ दयालु व्यास मुनि दूसरे पाद और तीसरे पाद का आरम्भ करते हैं। यथा–

३२–सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

पदार्थः–(सर्वत्र) सब वेदादि शास्त्रों में (प्रसिद्धोपदेशात्) प्रसिद्ध उपदेश होने से ॥

सब वेदादि शास्त्र जीव को ईश्वर से भिन्न स्पष्ट उपदेश करते हैं, इस कारण पूर्व पाद के अन्तिम सूत्र की शङ्का ठीक नहीं, किन्तु समाधान ठीक है ॥ १ ॥

३३–विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

पदार्थः–(च) और (विवक्षितगुणोपपत्तेः) जो कहने चाहियें, उन गुणों की उपपत्ति से भी ॥

जो २ गुण परमात्मा में विवक्षित हैं, वे सब जगत् के कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता होने के लिये परमात्मा में ही उपपन्न हैं, जीव और प्रकृति में नहीं ॥२॥ क्योंकि–

३४–अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

पदार्थः (शारीरः) शरीरधारी जीवात्मा (तु) तो (अनुपपत्तेः) उन गुणों की उपपत्ति न होने से (न) जगत्कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता नहीं हो सकता ॥

जो एक शरीर के बन्धन में रहने वाला स्वयं हो वह समस्त जगत् का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता कैसे उपपन्न हो सकता है, अतएव जीवात्मा जगज्जन्मादि कारण कभी नहीं बन सकता ॥ ३ ॥

३५–कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

पदार्थः–(कर्मकर्तृव्यपदेशात्) कर्म और कर्त्ता के कथन से (च) भी ॥

छान्दोग्य ३–१४–४ में कथन है कि "एतमितः प्रेत्याऽभिसंभवितास्मि" अर्थात् यहां से मरकर उस को प्राप्त होऊंगा ॥ इस वाक्य में शारीर जीवात्मा को कर्त्ता=प्राप्त करने वाला और परमात्मा को कर्म=प्राप्य होने वाला कहा है । जिस से भी स्पष्ट है कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है, वह देहबन्धन से मुक्त होने और परमात्मा को पाने की इच्छा करता है, वह जगत् का कर्त्ता आदि नहीं है ॥ ४ ॥

३६–शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

पदार्थः–(शब्दविशेषात्) विशेष शब्द से [जीवात्मा ही परमात्मा नहीं] ॥

शतपथ ब्राह्मण १० । ६ । ३ । २ में कहा है कि " अयमन्तरात्मन्पुरुषः " अर्थात् आत्मा=जीवात्मा के अन्तर्=भीतर पुरुष=परमात्मा है । शङ्कराचार्य जी अपने भाष्य में कहते हैं कि इस वाक्य में "आत्मन्" सप्तमीविभक्तिस्थ पदवाच्य जीवात्मा और 'पुरुष' प्रथमाविभक्तिस्थपदवाच्य परमात्मा है जो एक दूसरे से भिन्न हैं ॥ शतपथ में दृष्टान्त दिया है कि "यथा व्रीहिर्वा यवोवा श्यामाकोवा श्यामाकतण्डुलोवा " जैसे छिलके में चावल वा जौ की गिरी वा समाईं वा समें का चावल छिपा हुवा है, ऐसे ही आत्मा में परमात्मा पुरुष जो ज्योतिःस्वरूप है, छिपा=अज्ञात है । दृष्टान्त के सब धर्म दार्ष्टान्त में नहीं होते, इस लिये यहां दृष्टान्त केवल छिलके के समान निर्बल जीवात्मा और उस के भीतर चावल आदि के समान प्रबल परमात्मा का है, अन्य बातें नहीं घटतीं, इस से भी अधिक घटने वाले दृष्टान्त उपनिषदों में उपस्थित हैं । यथा–

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः ॥ (श्वेताश्वतरोपनि०)

तिलों में तैल और दही में घृत के समान परमात्मा अज्ञात है । वह ध्यान को मथनी वा स्वदेह को नीचे की अरणि और ओङ्कार के जप को उत्तरा-

इणि बनाकर रगड़ने पेलने से शांत और स्पष्ट हो जाता है। देह का स्वामी तिल की फली, जीवका स्वामी तिल और तैल का स्वामी परमात्मा दृष्टान्त से दार्ष्टान्त में समझो। गौ का स्वामी देह, दधि दुग्ध का स्वामी जीवात्मा और घृत का स्वामी परमात्मा दूसरे दृष्टान्त और दार्ष्टान्त हैं ॥ ५॥

३७—स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

पदार्थः—(स्मृतेः) स्मृति से (च) भी ॥

वेद के पश्चात् बने ग्रन्थों को स्मृति समझते हुये गीता, जो महाभारत इतिहास का पुस्तक है; उस को स्मृतिं मानकर स्वामी शङ्कराचार्य अपने भाष्य में गीता १८। ६१ का वचन उद्धृत करते हैं कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति०।

अर्थात् हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। इस से भी सिद्ध है कि जीवात्मा परमात्मा भिन्न २ हैं ॥

तथा वास्तविक स्मृतियों में भी अनेक स्थलों पर जीवों को कर्मफल भोक्ता और ईश्वर को योजयिता कहा गया है। तदनुसार भी भेद सिद्ध है॥

३८—अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

पदार्थः-(अर्भकौकस्त्वात्) बालकों के घर होने से (च) और (तद्व्यपदेशात्) उस के कथन से (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (न) हृदयदेश में ईश्वर नहीं रह सकता, सो (न) नहीं क्योंकि (एवं) इस प्रकार (निचाय्यत्वात्) निश्चेय होने से (च) और (व्योमवत्) आकाश के समान ॥

यदि कहो कि ईश्वर को हृदयदेशस्थित होने से यह दोष आवेगा कि बालकों के बनाये घरौंदे में जैसे कोई वास नहीं कर सकता, क्योंकि घरौंदे से रहने वाले महान् बड़े होते हैं, इसी प्रकार व्यापक ईश्वर परमात्मा इस छोटे से हृदयदेश में कैसे रह सकता है, इस लिये हृदयदेश में रहने वाला ईश्वर सर्वव्यापक नहीं, किन्तु परिच्छिन्न जीवात्मा ही रह सकता है। इस का उत्तर यह है कि ईश्वर हृदयदेश में परिच्छिन्न न होने पर भी हृदय में निचाय्य=साक्षात्कर्त्तव्य है, क्योंकि वहां अन्य स्थूल वस्तुओं की आड़ वा परदा नहीं है। यहीं उपनिषद् में कहा है कि—

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्यजन्तोर्निहितोगुहायाम्

अथवा

योयोनिं योनिमधितिष्ठत्येकोयस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥
(श्वेता० ४ । ११)

अर्थ—जो एकला ही प्रत्येक योनि में अधिष्ठाता होकर रहता है, जिस में यह सब (जगत्) उत्पन्न और प्रलय को प्राप्त होता है, उस वरदायक स्तुतियोग्य देव परमेश्वर को (निचाय्य) हृदयदेश में साक्षात् करके अत्यन्त इस शान्ति को पाता है ॥

उस हृदयदेश में परमात्मा की स्थिति कहने वाले वचनों का यह आशय नहीं कि परमात्मा परिच्छिन्न होकर हृदयदेश में स्थित है, किन्तु हृदय में निश्चेय वा साक्षात् करने योग्य है, परन्तु है हृदय से बाहर भी । सूत्र में व्योम=आकाश के समान है । जैसे आकाश सर्वत्र भी है,घट मठ आदि में भी है । ऐसे ही परमात्मा सर्वत्र है, वही हृदय में भी है ॥ ७ ॥

३९—संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (संभोगप्राप्तिः) भोग की प्रसक्ति होगी, सो (न) नहीं, क्योंकि (वैशेष्यात्) विशेषभाव से ॥

यदि कहो कि ईश्वर हृदय में रहने से जीव के समान ईश्वर भी भोक्ता होगा, सो नहीं,क्योंकि जीवात्मा से परमात्मा में इतना विशेष है कि—मु०३।१।१

तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।

यद्यपि एक देह में जीवात्मा और परमात्मा दोनों रहते हैं, परन्तु तौ भी जीवात्मा भोक्ता होकर और परमात्मा केवल साक्षी होकर वर्त्तमान है ॥८॥

यदि कहो कि परमात्मा भोगरहित है तो उस को शास्त्रों में अत्ता=खाने वाला क्यों कहा है ? जैसा कि—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम् ।
(कठोपनिषद् १ । २ । २५)

अर्थात् जिस परमात्मा के आत्मिक और शारीरक बल=आत्मबल और बाहुबल दोनों ही भात के समान भक्ष्य हैं। तथा-

" अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः " मैं अन्न खाने वाला हूं ३ इत्यादि वचनों से परमात्मा में भोग पाया जाता है ? तो उत्तर-

४०-अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

पदार्थः-(चराचरग्रहणात्) चराचर के ग्रहण करने से (अत्ता) खाने वाला [कहा गया] है ॥

वास्तविक भोग से परमात्मा को अत्ता=खाने वाला नहीं कहा गया, किन्तु सब कुछ उस अनन्त परमात्मा के भीतर ग्रहण किया हुवा होने से उस परमात्मा को अत्ता कहा गया है, न कि भोक्तृत्व से ॥ ९ ॥

४१-प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

पदार्थः-(प्रकरणात्) प्रकरण से (च) भी ॥

अत्ता से परमात्मा ही का अभिप्राय है, जीव का नहीं। क्योंकि प्रकरण में परमात्मा का ही वर्णन है ॥ १० ॥

४२-गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

पदार्थः-(हि) क्योंकि (तद्दर्शनात्) उस को देखने से (आत्मानौ) दो आत्मा (गुहां) हृदय में (प्रविष्टौ) प्रविष्ट [पाये जाते हैं] ॥

" गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे " कठ १ । ३ । १ इत्यादि वाक्यों के देखने से पाया जाता है कि हृदय में दो आत्मा वास करते हैं, १ जीवात्मा, २ परमात्मा। इस सूत्र के शङ्करभाष्य की समाधान शैली पढ़ने वालों को मोद-जनक होगी सो लिखते हैं:-

"दो आत्मा कौन२ हैं ? बुद्धि और जीव अथवा जीव और ईश्वर ? यदि बुद्धि और जीव माने जावें तो भी ठीक है क्योंकि कार्य करण के समूह से जिस में बुद्धि प्रधान है, जीव विलक्षण है, यह इस प्रकरण में बताना योग्य ही था क्योंकि नचिकेता का यह प्रश्न था कि "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः " कठ १ । १ । २० (अर्थ-मनुष्य के मरने पर संशय है कि वह मरने पश्चात् है वा नहीं। कोई कहते हैं कि है ? कोई कहते हैं कि नहीं। इस

के उत्तर में यह प्रतिपादन करना ठीक है ही कि देहेन्द्रियबुद्धि से पृथक् विलक्षण जीव है जो देह के साथ नष्ट नहीं जाता। और यदि जीवात्मा परमात्मा इन दो आत्माओं को समझें तो भी ठीक है, क्योंकि नचिकेता का यह भी प्रश्न था कि—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद्" ॥ कठ १। २। १४ ॥

अर्थात् धर्म अधर्म, कृत अकृत, भूत भविष्यत् इन सब से पृथक् जिस को तुम जानते हो, उस को बताओ ॥ इस प्रश्न के उत्तर में जीवात्मा से परमात्मा की विलक्षणता भी प्रतिपादन करनी ठीक थी। तब कौन से दो आत्मा समझे जावें? इस में एक आक्षेप करने वाला कहता है कि ये दोनों ही पक्ष ठीक संभव नहीं, न तो बुद्धि-जीव, न जीव-ईश्वर। क्योंकि उपनिषद् के इस श्लोक में १ बात ऐसी है जो दोनों आत्माओं में संभव नहीं। वह यह कि "लोक में सुकर्म का फल भोगते हुवे"। यह बात जीव में घट सकती है; ईश्वर में नहीं, न बुद्धि में। अतः न तो बुद्धि-जीव, न जीव-ईश्वर का ग्रहण संभव है। बुद्धि=अचेतन है, उस को भोग संभव नहीं, परमात्मा भोक्ता नहीं, "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" मुण्डक ३। १। १ इत्यादि प्रमाण उस को साक्षी मात्र, भोगरहित बताते हैं ॥

उक्त दोषों का समाधान यह है कि १—"छत्र वाले जाते हैं," इस वाक्य में जैसे कई जाने वालों में किसी के पास छत्र न हो, तब भी एक ही विशेषण से सब को कह दिया जाता है, इसी प्रकार जीव ईश्वर इन दोनों में एक जीव के भोक्ता होने से साहचर्य में दोनों को भोक्ता कह दिया गया है। २—अथवा जीव को भोगने वाला और ईश्वर को भोगवाने वाला मान कर भोग क्रिया में प्रयोज्य प्रयोजक दोनों का संबन्ध देख कर ऐसा कह दिया गया है। जैसे पकवाने वाले को भी पकाने वाला कह देते हैं। तथा बुद्धि और जीव का ग्रहण दोनों आत्माओं से करें, यह भी संभव है क्योंकि बुद्धि भोगसाधन है, साधन=करण को भी कर्तृत्वविवक्षा हो जाती है। जैसे "लकड़ियें पकाती हैं" इस वाक्य में इन्धन=लकड़ियों को जो पकाने का साधन है, कर्ता कह दिया जाता है ॥

और अध्यात्मप्रकरण में बुद्धि—जीव वा जीवेश्वर के अतिरिक्त आत्मा शब्द का अन्य कोई अर्थ लग भी नहीं सकता। इस लिये दोनों पक्ष मन

सक्ते हैं । इन दोनों में से कौनसा पक्ष वास्तव में विवक्षित है, यह संशय है । इस संशय में एक बात देखकर तो बुद्धि और जीव का पक्ष ठीक जंचता है क्योंकि वहां " गुहां प्रविष्टौ " विशेषण है । यदि शरीर को गुहा कहें वा वा हृदय को गुहा कहें तो दोनों प्रकार से बुद्धि और जीव ही गुहा में प्रविष्ट कहे जा सकते हैं । जब अर्थ घट सकता है, तब सर्वगत ईश्वर का देश १ देह वा १ हृदय को कल्पना करना ठीक नहीं । तथा सुकर्म का फलभोग भी ईश्वर में वर्जित है । जैसा कि-" न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् " ईश्वर न तो कर्म से बढ़ता, न घटता है (बृहदा० ४ । ४ । २३) तथा छाया और धूप के दृष्टान्त से भी चेतन जीव और अचेतन बुद्धि को लक्ष्य करना ठीक जान पड़ता है । क्योंकि जैसे छाया और धूप एक दूसरे से विलक्षण हैं वैसे ही बुद्धि और जीव में एक जड़ दूसरा चेतन होने से एक दूसरे से विलक्षण हैं । इस कारण यहां बुद्धि और जीव का ग्रहण करना ठीक है । इस प्रकार संशय का एक पक्ष में अधिक निर्धारण दिखा कर फिर कहते हैं कि नहीं, यहां आत्मानौ इस द्विवचन से दोनों चेतनों का ही ग्रहण करना चाहिये, तथा जब एक अर्थ में द्विवचन संख्या सुनी जावे, तब लोक में भी एक ही जाति की दो व्यक्तियें लीजाती हैं, जैसे "इस बैल के साथ का दूसरा ढूंढना चाहिये" इस वाक्य में दूसरा बैल ही समझा जाता है, न कि भिन्न जातीय घोड़ा, वा मनुष्य । ऐसे ही यहां ऋतपान=कर्मफलभोग शब्द से जीव का ग्रहण निश्चित है, तब दूसरे आत्मा को ढूंढें तो चेतन समान दूसरा आत्मा परमात्मा ही निश्चित होता है । और यह जो कहा कि "गुहां प्रविष्टौ" विशेषण से बुद्धिजीव का ही ग्रहण संभव है, न कि जीवईश्वर का, इसके उत्तर में हम कहते हैं कि "गुहां प्रविष्टौ" विशेषण से ही परमात्मा का ग्रहण ठीक समझ पड़ता है, क्योंकि परमात्मा का गुहाहित होना तो वारम्वार श्रुति स्मृतियों में कहा गया है । यथा-गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् (कठ १ । २ । १२) योवेद निहितं गुहायां परमेव्योमन् (तै० २ । १) आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम् इत्यादि ॥ हम कह चुके हैं कि सर्वव्यापक ईश्वर का भी साक्षात्कार योग्य स्थान हृदय है, इस कारण हृदय को उस का स्थान कहना अयुक्त नहीं । सुकर्म का फल भोग भी दोष नहीं, क्योंकि " छत्र वाले जाते हैं " इस लौकिक वाक्य का उदाहरण देकर उत्तर दे चुके हैं । छाया और धूप का विशेषण भी विरुद्ध नहीं पड़ता क्योंकि जीव संसारी और परमात्मा

असंसारी होने से एक दूसरे से ऐसे ही विलक्षण हैं, जैसे छाया और धूप। जीव अल्पज्ञ और ईश्वर सर्वज्ञ है, यह भी विलक्षणता है। इस लिये सिद्ध हुवा कि आत्मानौ इस द्विवचन से एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा कहे गये हैं ॥ ११ ॥

४३–विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

पदार्थः–(विशेषणात्) विशेषण से (च) भी ॥

"आत्मानं रथिनं विद्धि०" (कठ १ । ३ । ३) इस श्रुति में जीवात्मा को रथी कहा है, शरीर को रथ, इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम=रस्सी, बुद्धि को सारथि। तथा "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ १ । ३ । ९) इस में मार्ग के पार उस विष्णुपद को पहुंचना कहा है। इन विशेषणों से जीवात्मा और परमात्मा ये दो आत्मा ही पाये जाते हैं १२

४४–अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

पदार्थः–(उपपत्तेः) युक्ति से (अन्तरः) अन्तर्यामी है ॥

एक देश में दो पदार्थ न रह सकने की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि सूक्ष्म पदार्थ स्थूल के भीतर रह सकता है, उपपत्ति=युक्ति से यह सिद्ध है। जैसे लोहपिण्ड में अग्नि भीतर=अन्तर होकर रह सकता है। जीव की अपेक्षा भी ईश्वर अतिसूक्ष्म होने से जीव में भी व्यापक हो सक्ता है ॥

४५–स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पदार्थः–(स्थानादिव्यपदेशात्) स्थानादि कथन से (च) भी ॥

य आत्मनि तिष्ठन्० (बृहदा० ३ । ७) इत्यादि स्थलों में आत्मा को परमात्मा का स्थान कथन किया है। इस से यह भी सिद्ध है कि जीवात्मा के भीतर परमात्मा के व्यापक होने में उपपत्ति ही नहीं किन्तु शब्द प्रमाण भी है॥

स्थान शब्द के आगे आदि शब्द भी पढ़ा है, उस से नामादि का ग्रहण जानो। परमात्मा वाणी का विषय नहीं, तथापि नाम स्मरणादि से उस की प्राप्ति में सुगमता होती है, इस लिये शास्त्रों में उस के नामादि भी पाये जाते हैं, केवल आत्मा को उसका स्थान मात्र ही नहीं कह दिया है ॥१४॥

४६–सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

पदार्थः–(सुखविशिष्टाभिधानात्) सुखयुक्त कथन से (एव) निश्चय (च) भी॥

परमात्मा को आनन्दमय कहा गया है, इस से भी यह सिद्ध होता है कि आत्मा दो हैं, एक आनन्दमय, दूसरा सुखी दुःखी जीवात्मा ॥ १५ ॥

४७—श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

पदार्थः—(श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्) जिस ने उपनिषद्=वेदान्त का श्रवणपूर्वक ज्ञान प्राप्त किया है, उसी की गति=ब्रह्मप्राप्ति कही गई होने से (च) भी ॥

सर्वगत भी ब्रह्म सब को प्राप्त नहीं होता, किन्तु वेदान्त के अध्ययन से जब हृदयदेश में अन्तर्वृत्ति होकर ढूंढने से मिलता है इस से भी अन्तर्यामी होना पाया जाता है ॥ १६ ॥

४८—अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(अनवस्थितेः) ठहराव न होने से (च) और (असंभवात्) असंभव होने से (इतरः) दूसरा आत्मा=जीवात्मा (न) अन्तर्यामी नहीं ॥

जीवात्मा एक देह में सदा ठहरता नहीं, तथा यह संभव भी नहीं कि एकदेशीय एकदेहस्थ जीवात्मा सारे जगत् का अन्तर्यामी हो सके इस लिये जीवात्मा अन्तर्यामी नहीं ॥ १७ ॥

४९—अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(अधिदैवादिषु) अधिदैव, अधिभूत, अध्यात्म इन सब प्रकरणों में (तद्धर्मोपदेशात्) उस के धर्म=अन्तर्यामीपने के उपदेश से (अन्तर्यामी) ब्रह्म सर्वान्तर्यामी है ॥

बृहदारण्यक में जहां अन्तर्यामी होनेका वर्णन है, वहां अग्नि जल तेज वायु आकाश आत्मा और इस लोक, परलोक, सब भूत, इन सब के भीतर रहकर सब का नियामक होना कहा है । यथा—

" य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति० "—यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (बृ० ३ । ७ । १) इस से सब भूतों देवों और आत्माओं में वह अन्तर्यामी होकर वर्त्तमान हुवा सिद्ध है ॥ १८ ॥

५०—न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

पदार्थः—(स्मार्त्तम्) स्मृति में कहा जगत् का उपादान कारण (च) भी (न) अन्तर्यामी नहीं हो सकता, (अतद्धर्माभिलापात्) उस में अन्तर्यामित्व धर्म का कथन न होने से ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ मनु १ । ५

इस प्रकार जिस जगत् के आदि उपादान कारण को तमोभूत, अप्रज्ञात, अलक्षित, अतर्क्य, अज्ञेय कहा है, वहां उस को भी अन्तर्यामी नहीं कहा, इस लिये उपादान कारण भी अन्तर्यामी नहीं ॥ १९ ॥

५१—शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

पदार्थः—(शारीरः) जीवात्मा (च) भी अन्तर्यामी नहीं-[न शब्द की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति है—शङ्करभाष्य] (हि) क्योंकि (उभये) दोनों= कण्व शाखी और माध्यन्दिनी शाखी (अपि) भी (एनम्) इस जीवात्मा को (भेदेन) भेदभाव से (अधीयते) पढ़ते हैं ॥

"यो विज्ञाने तिष्ठन्" (बृह० ३ । ७ । २२) इस वाक्य में कण्व शाखा वाले और " य आत्मनि तिष्ठन् (बृह० ३ । ७ । ३०) इस वाक्य में माध्यन्दिनी शाखा वाले, दोनों ही जीवात्मा में परमात्मा को व्यापक और जीव को व्याप्य मान कर भेदवाद का पाठ करते हैं, तब न तो जीवात्मा स्वयं परमात्मा है, अतएव वह न अन्तर्यामी है ॥ २० ॥

५२—अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(धर्मोक्तेः) धर्मकथन से (अदृश्यत्वादिगुणकः) अदृश्य होने आदि गुणवान् है ॥

जगत् का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय न होने से अदृश्य, अरूप, अगन्ध, अरस इत्यादि गुणों (विशेषणों) वाला है, क्योंकि शास्त्र में उस के ऐसे ही धर्म (गुण) कहे गये हैं । यथा—अद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादमित्यादि (मुण्डक १-१ । ५-६) वह अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अरूप, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अहस्त, अपाद है इत्यादि ॥ २१ ॥

५३—विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(विशे-देशाभ्यां) विशेषण और भेद के कथन से (च) भी (इतरौ) जीव और प्रधान=प्रकृति (न) जगत् के कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता नहीं हैं ॥

मुण्डक २-१-२ में ऐसे विशेषण हैं, जो जीव और प्रकृति में नहीं घटते। जैसे—"दिव्योऽह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः अक्षरात्परतः परः" ॥ इन विशेषणों में प्रकृति नहीं घटती और जीवेश्वर के भेद कथन से जीव में भी नहीं घटते, जैसा कि इसी पाद के २० वें सूत्र में भेद कथन कर आये हैं। ऊपर के उपनिषद्वाक्य में इतना स्पष्ट कहा है कि अक्षर=प्रकृति से परे=सूक्ष्म जीव और उस से पर=सूक्ष्म परमात्मा है ॥ २२ ॥

५४—रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

पदार्थः—(रूपोपन्यासात्) रूप के उपन्यास=कल्पनायुक्त कथन से (च) भी॥

कल्पना=फ़र्ज़ी कथन को उपन्यास कहते हैं, जो न हो परन्तु कल्पना करके कहा जावे। परमात्मा का भी रूप वास्तव में नहीं है, परन्तु अलङ्कार रूप से कल्पना करके कहा गया है। जैसे—"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" ॥ मुण्डक २।१।४ अग्नि उस का मूर्धा है, सूर्यचन्द्र नेत्र, दिशायें कान, वेद वाणी, वायु प्राण, हृदय विश्व, पृथिवी पांव, यही सब भूतों का अन्तरात्मा परमात्मा है। ऐसे रूपक बांधकर कथन उपन्यास की रीति पर कहे गये हैं, जो जीव वा प्रकृति में नहीं घटते ॥ २३ ॥

५५—वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(साधा—विशेषात्) साधारणशब्दों से विशेष होने से (वैश्वानरः) परमात्मा का नाम वैश्वानर है ॥

को न आत्मा, किं ब्रह्म (छान्दो० ५।११) हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है। इत्यादि प्रकरणों में साधारणशब्द से विशेष वर्णन पाया जाता है, इस लिये ऐसे प्रकरणों में वैश्वानर शब्द का साधारण अर्थ जाठराग्नि भूताग्नि और जीवात्मा नहीं समझना चाहिये, किन्तु जगत्कर्त्ता परमात्मा ही समझना चाहिये ॥ २४ ॥

५६—स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

पदार्थः—(स्मर्यमाणम्) स्मृतियों में कहा हुवा (अनुमानम्) अनुमान (इति) यह (स्यात्) होगा ॥

विश्व=सब, नर=मनुष्यों में जो रहे, वह वैश्वानर परमात्मा। वेदानुकूल स्मृतियों में भी इसी प्रकार अनुमान किया गया है कि—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत् ॥ मनु १।३१॥

लोकों की उन्नति के लिये परमात्मा ने ब्राह्मण=मुख, क्षत्रिय=बाहु, वैश्य=जङ्घा और शूद्र=पांव बनाया। इस प्रकार के ईश्वर के वैश्वानरत्व का कथन जो स्मृतियों में आया है, वह भी अनुमान कराता है कि परमात्मा का नाम उपन्यास की रीति पर वैश्वानर आता है ॥ २५ ॥

५७–शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

पदार्थः–(शब्दादिभ्यः) वैश्वानर गार्हपत्यादि शब्दों से (च) और (अन्तःप्रतिष्ठानात्) भीतर प्रतिष्ठित होने से (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (न) परमात्मा का नाम वैश्वानर नहीं बनता, सो (न) नहीं। क्योंकि (तथादृष्ट्युपदेशात्) उस प्रकार की दृष्टि से उपदेश से (असंभवात्) असंभव होने से (च) और (एनम्) इसी वैश्वानर को (पुरुषम्) पुरुष (अपि) भी (अधीयते) पढ़ते हैं ॥

सूत्र के पूर्वार्ध में दो हेतु पूर्वपक्ष हैं । १–यह कि एक वैश्वानर शब्द ही अग्नि अर्थ करने को होता सो नहीं, प्रत्युत आदि शब्द से अन्य गार्हपत्यादि शब्द भी देखे जाते हैं, जैसे–" हृदयं गार्हपत्यः" छां० ५। १८। २ इत्यादि में तीनों अग्नियों का वर्णन है। २–यह कि " वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" शतपथ १०। ६। १। ११ इस प्रकार के वाक्यों में उस को अन्तः प्रतिष्ठित=भीतर धरा हुवा कहा है, सो ये दोनों हेतु जाठराग्नि में घटते हैं, वही गार्हपत्यादि नाम से "हृदयं गार्हपत्यः" इत्यादि में प्रख्यात है, जाठराग्नि ही भीतर प्रतिष्ठित है । इस के उत्तर में सूत्र का उत्तरार्ध है कि वैसी दृष्टि से उपदेश है जिस से परमात्मा का ग्रहण है, क्योंकि जहां छान्दोग्य ५। १८। २ में " हृदयं गार्हपत्यः " कहा है, वहीं "मूर्धैव सुतेजाः" भी कहा है, जिस से अग्निदृष्टि से गार्हपत्यादि शब्द प्रयुक्त नहीं, किन्तु ईश्वरदृष्टि से हैं, क्योंकि अन्यशब्दों से वहां प्रकरण में अग्नि का अर्थ संभव नहीं। और २–यह कि माध्यन्दिन शाखी लोग उस वैश्वानर को पुरुष भी कहते हैं जैसा कि ऊपर अन्तः प्रविष्ट पुरुष का वर्णन है, वह

परमात्मा पुरुष है, और प्रत्येक के अन्तर् और बाहर सर्वत्र होने से अन्तः प्रतिष्ठित कहना भी उस में संभव है ॥ २६ ॥

५८—अतएव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

पदार्थः—(अतः) इस कारण से (एव) ही (देवता) वैश्वानर का अर्थ देवविशेष (च) और (भूतं) भूतविशेष (न) नहीं हो सकता ॥ स्पष्ट है ॥ २७ ॥

५९—साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पदार्थः—(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य (साक्षात्) साक्षात् (अपि) भी (अविरोधं) विरोधाऽभाव को कहते हैं ॥

जैमिनि जी कहते हैं कि प्रकरण और हेतुओं से तो वैश्वानर शब्द परमात्मार्थ में घटता ही है, किन्तु साक्षात् ईश्वर का नाम भी वैश्वानर=विश्व का नेता, इस अर्थ को लेकर स्पष्ट है ॥ २८ ॥ प्रश्न—यदि परमेश्वर का ग्रहण है तो सर्वव्यापी परमेश्वर में प्रादेशमात्र कथनकारि उपनिषद्वचनों की क्या गति होगी ? उत्तर—

६०—अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

पदार्थः—(आश्मरथ्यः) आश्मरथ्याचार्य (इति) ऐसा कहते हैं कि (अभिव्यक्तेः) प्रकट वा प्रत्यक्ष होने से ॥

अर्थात् मन में परमात्मा का मानस प्रत्यक्ष=अभिव्यक्ति होती है, अतएव प्रादेशमात्र मनःस्थ परमात्मा को प्रादेशमात्र वा अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कह दिया गया है ॥ २९ ॥

६१—अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

पदार्थः—(बादरिः) बादरि मुनि कहते हैं कि (अनुस्मृतेः) अनुस्मरण से ॥

प्रादेशमात्र देशस्थित हृत्पुण्डरीक में अनुस्मरण (याद) किया जाने से परमात्मा को प्रादेशमात्र कहा गया है ॥ ३० ॥

६२—संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(जैमिनिः) जैमिनि मुनि (इति) ऐसा कहते हैं कि (संपत्तेः) संपदा होने से । (तथा हि) वैसा ही (दर्शयति) दिखाते हैं ॥

एक २ प्रदेश अर्थात् प्रत्येक प्रदेश परमात्मा की सम्पत्ति है, और वह उस प्रदेशस्थ सम्पत्ति का स्वामी है, प्रदेश छोर वा सिरे को भी कहते हैं, परमात्मा ओर छोर तक प्रतिप्रदेश में वर्त्तमान है, अतएव उस को प्रादेश मात्र कथन करने वाले वचनों की सङ्गति इस प्रकार जैमिनि मुनि के मत में है। तथा च शतपथ १०। ६। १। १०-११ "प्रादेशमात्रमिव ह देवाः" इत्यादि में दिखलाया गया है कि मूर्धा, चक्षु, नासिका, मुख, चुबुक,=ठोढ़ी चाहे एक प्राणी की, चाहे सारे ब्रह्माण्ड की में वैश्वानर परमात्मा वास करते हैं॥

६३—आमनन्ति चैनमस्मिन्॥ ३२॥

पदार्थः-(एनं) इस परमात्मा को (अस्मिन्) इस प्रकरण में (च) और लोग भी (आमनन्ति) अपने आम्नायग्रन्थों में कथन करते हैं॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते,
वेदान्तदर्शनभाषानुवादे सभाष्ये, प्रथमाध्यायस्य,
द्वितीयःपादः॥ २॥

अथ प्रथमाऽध्यायस्य

तृतीयः पादः

६४—द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥ १॥

पदार्थः-(स्वशब्दात्) अपना वाचक आत्माशब्द आने से (द्युभ्वाद्यायतनम्) द्युलोक भूलोकादि का आयतन=घर [परमात्मा] है॥

मुण्डक २। २। ५ में लिखा है कि—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतुः॥

अर्थः-जिस में द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्षलोक (३ लोक) और सब प्राणों के सहित मनस्तत्त्व ओत=पिरोया हुवा है, उस ही एक को आत्मा=व्यापक जानो, अन्य बातें छोड़ दो, यह अमृत का पुल है॥

इस लिये द्युलोकादि का घर=जिस में द्युलोकादि वास करते हैं, जगत् का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता परमात्मा है क्योंकि उसी एक को व्यापक=आत्मा कहा गया है॥ १॥ दूसरा हेतुः—

६५—मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

पदार्थः-(मुक्तोप०) मुक्त पुरुषों को जिस के पास जाना है, इस कथन से-भी पाया जाता है कि अन्य आत्मा=जीवात्मा भी द्युलोकादि का घर नहीं हैं, वे भी मुक्त होकर स्वयं परमात्मा को शरण=घर बनाते हैं ॥ १ ॥

६६—नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

पदार्थः-(अनुमानं) अनुमानसिद्ध=वायुआदि तत्त्व (न) जगत्कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता नहीं (अतच्छब्दात्) उस का शब्दप्रमाण न होने से ॥

यदि अनुमान करें कि वायु वा अन्य सूर्यादि कोई जगत् का कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता होगा, सो नहीं, क्योंकि इस प्रकरण में जहां जगत् के उत्पादक का वर्णन है, ब्रह्म को जगत्कर्त्तृत्वादि धर्म वाला कहा गया है, अन्य को नहीं। श्रुति स्मृति के अनेक वाक्य ऊपर सूत्रों के भाष्य में बता दिये गये ॥

इस सूत्र के " अनुमानं " पद के स्थान में " आनुमानिकं " पाठ भी एक पुस्तक में देखा गया ज्ञात होता है जो संवत् १७४९ का लिखा पूना निवासी वे० शा० रा० रा० वाल शास्त्री का पुस्तक, कैलासवासी " देव " नामी विद्वान् का आनन्दाश्रम प्रेस पूना को प्राप्त हुवा, जिस के पत्रे ५७७ प्रति पत्रा पङ्क्ति १९ अक्षर ४० का है। परन्तु आर्यमुनि जी के भाष्य में सूत्रान्त में " प्राणभृच्च " पाठ अधिक है, जो अन्य किसी पुस्तक में हम को नहीं मिला किन्तु "प्राणभृच्च" यह अगला सूत्र पृथक् मिलता है ॥३॥ यथा—

६७—प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

पदार्थः—(प्राणभृत्) प्राणधारण करने वाला=जीवात्मा (च) भी ॥

जगत्कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता नहीं हो सकता जो द्युलोकादि का घर हो ॥ ४ ॥ इस में हेतुः—

६८—भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(भेदव्य०) भेद के कथन से ॥

शङ्करभाष्य-यहां भेद कथन भी है " तमेवैकं० " इस में ज्ञेय और ज्ञाता के भाव से। उन में जीवात्मा तो मुक्ति की इच्छा वाला होने से ज्ञाता है, परिशेष से (बचा हुवा) आत्मा शब्द का वाच्य ब्रह्म=ज्ञेय है, (वही) द्युलोकादि का स्थान समझा जाता है, जीवात्मा नहीं ॥

सूत्रार्थ मात्र लगावें तो शंकराचार्य जी भी भेद का मण्डन ही करते हैं, परन्तु अपनी ओर से उपाधि और लक्षणा के जोड़ तोड़ (भाग त्यागादि) से अभेद की कल्पना खड़ी कर लेते हैं ॥५॥ अन्य हेतुः—

६९—प्रकरणात् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(प्रक०) प्रकरण से—

भी जीवात्मा द्युलोकादि का स्थान सिद्ध नहीं होता, परमात्मा ही सिद्ध होता है ॥

शंकरभाष्य—यह प्रकरण भी परमात्मा का है। "हे भगवन्! किस को जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है" (मुण्डक १।१।३) इस में एक के जान लेने पर सब के ज्ञान की अपेक्षा से। क्योंकि परमात्मा के ज्ञात होने पर, जो सब का आत्मा है, यह सब ज्ञात होगा, न केवल जीवात्मा के (जानने के मात्र से) ॥ ६ ॥

अन्य दो हेतुः—

७०—स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

पदार्थः—(स्थित्यदनाभ्यां) स्थिति और भोग से (च) भी ॥

द्वा सुपर्णा० मन्त्र में जीवात्मा को तो भोक्ता और परमात्मा को साक्षि मात्र होकर स्थित कहा गया है। इस हेतु से भी जीवात्मा द्युलोकादि का आयतन=स्थान नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

७१—भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(संप्रसादात्) संप्रसाद से (अध्युपदेशात्) ऊपर उपदेश होने (भूमा) परमात्मा का नाम "भूमा" है ॥

भूमा के प्रकरण में संप्रसाद से ऊपर की वस्तु को भूमा कहा है। जिस सुषुप्ति में सब देहेन्द्रियों की भले प्रकार प्रसन्नता होती है, और प्राण जागता रहता है, इस कारण प्राण को संप्रसाद कहते हैं। यद्यपि प्रथम अपेक्षाकृत प्राण को बड़ा जान कर प्राण का नाम भी भूमा होने की भ्रान्ति होती है परन्तु सूत्रकार कहते हैं कि प्राण से ऊपर अर्थात् पश्चात् छां० प्रपाठक ७ ख० २४ प्रवाक १ में परमात्मा को ही भूमा कहा है, "यो वै भूमा तदमृतं०" इस से परमात्मा ही द्युलोकादि के कर्तृत्वप्रकरण में भूमा शब्द का अर्थ है ॥ ८ ॥

७२ धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

पदार्थः-(धर्मोपपत्तेः) धर्मों की उपपत्ति से (च) भी ॥

जो धर्म भूमा में कहे हैं, वे परमात्मा में घटते हैं, इस से भी भूमा नाम परमात्मा का सिद्ध होता है। यथा-"यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इत्यादि। अर्थात् जिस (परमात्मा) के दर्शन होने पर अन्य का दर्शन नहीं करता, अन्य का श्रवण नहीं करता, अन्य का विज्ञान नहीं करता, वह "भूमा" है ॥ ९ ॥

७३-अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

पदार्थः-(अम्बरान्तधृतेः) आकाश तक का धारण करने से (अक्षरम्) परमात्मा=ब्रह्म=अक्षर=अविनाशी है ॥ १० ॥

७४-सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

पदार्थः-(सा च) और वह [आकाश तक की धृति] (प्रशासनात्) शास्त्रोपदिष्ट होने से ॥

परमात्मा ने आकाश तक को धारण किया हुवा है, यह बात शास्त्र में भी कही है। यथा-"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" बृ० ५। ८। ९ ॥

अर्थ-हे गार्गी! इस अक्षर अविनाशी परमात्मा के उत्कृष्ट शासन में धारण किये हुवे सूर्य चन्द्र ठहरे हुये हैं। तथा जब गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" बृ० ५। ८। ७ अर्थ-यह आकाश किस में ओत प्रोत है? उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति०" ब्राह्मण लोग उस को अक्षर बताते हैं ॥११॥

७५-अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

पदार्थः-(च) और (अन्यभावव्यावृत्तेः) अन्य सत्ता की व्यावृत्ति=रोक होने से ॥

अक्षर शब्द से अन्य अर्थ न समझा जावे, इस प्रयोजन से उपनिषद् में व्यावर्त्तक विशेषण भी रक्खे गये हैं। यथा बृह० ३। ८। ११ "तद्वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोत्रमतं मन्तृविज्ञातं विज्ञातृ" अर्थात् हे गार्गि!

वह अक्षर (ब्रह्म) आंख का विषय नहीं, किन्तु स्वयं द्रष्टा है, कान का विषय नहीं, सुन कर माना गया है, वेद से जाना गया है, सब का जानने वाला है। इन विशेषणों से अन्य अर्थों की आशङ्का हटाई गई है ॥ १२ ॥

७६–ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

पदार्थः-(ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्) ईक्षण क्रिया के कथन से (सः) वह [परमात्मा] ही अभिप्रेत है] ॥

यदि कहो कि पूर्व सूत्र के भाष्य में उद्धृत विशेषण किसी प्रकार से प्रकृति में भी लग सकते हैं, तो यह सूत्र उत्तर देता है कि ईक्षण क्रिया के कथन से अक्षर शब्द का वाच्य चेतन परमात्मा ही है ॥ १३ ॥

७७–दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

पदार्थः-(उत्तरेभ्यः) आगे कहे हेतुओं से (दहरः) दहर [नाम परमात्मा का] है ॥ १४ ॥ आगे वे हेतु कहे जाते हैं:-

७८–गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

पदार्थः-(गतिशब्दाभ्यां) दो गतिवाचक शब्दों से [परमात्मा का नाम दहर] (तथा) उस प्रकार का (हि) ही (लिङ्गं) चिन्ह (दृष्टं) देखा (च) भी है ॥

दहर के व्याख्यान में छान्दोग्य ८ । १ । १ में कहा है कि-" अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" और जो यह इस ब्रह्मपुर में दहर, कमलाकार स्थान है, उस के जो भीतर है, उस के भीतर दहर आकाश है, उस के जो भीतर है, वह ढूंढना चाहिये, वही जानने की इच्छा के योग्य है ॥ इस प्रकरण में आकाश और दहर शब्दों से क्या ग्रहण करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में इस सूत्र में दो गति शब्दों को हेतु देकर कहा गया है कि इसी दहर के प्रकरण में आगे चल कर छान्दोग्य ८ । ३ । २ में दो गति शब्द आये हैं । यथा-" इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति " ॥ ये सब प्रजायें जो प्रतिदिन मरजाती हैं, सो इस ब्रह्मलोक (मुक्ति) को नहीं पहुंच जाती हैं ॥ इस में दो गतिवाचक शब्द

हैं १-गच्छन्त्यः २-विन्दन्ति । दोनों में गति का कर्म ब्रह्म है, जो प्रकरणागत दहर शब्द का वाच्य है । इस कारण दहर का अर्थ परमात्मा समझना चाहिये ॥ १५ ॥

७९—धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

पदार्थः-(धृतेः) धारण करने के हेतु से (च) भी (अस्य) इस परमात्मा की (महिम्नः) महिमा=बड़ाई के (अस्मिन्) इस आकाश में (उपलब्धेः) उपलब्ध होने से ॥

धारण करने से भी परमात्मा का नाम दहर है क्योंकि इस आकाश में उस परमात्मा की महिमा पाई जाती है ॥ १६ ॥

८०—प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

पदार्थः-(प्रसिद्धेः) प्रसिद्धि से (च) भी ॥

प्रसिद्ध भी यही है कि इस आकाश के भी भीतर परमात्मा दहर नामक है । यथा—“आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता”—छां० ८ । १ । ४ आकाश= दहर नाम आत्मा ही नाम और रूपों को निर्वाह करने वाला है ॥ १५ ॥

८१—इतरपरामर्शात्स इति चेन्नाऽसंभवात् ॥ १८ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (इतरपरामर्शात्) अन्य=जीवात्मा के अर्थग्रहण से (सः) वह जीवात्मा=दहर होगा, सो (न) नहीं, क्योंकि (असंभवात्) असंभव होने से ॥

यदि कहो कि आत्मा शब्द से दहर के प्रकरण में जीवात्मा का ग्रहण हो सकता है, सो नहीं, क्योंकि यह असंभव है कि परिच्छिन्न जीवात्मा आकाशमात्र में व्यापक हो और उस का धारण करे ॥ १८ ॥

८२—उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

पदार्थः-(उत्तरात्) अगले वाक्य से (चेत्) यदि [यह कहो कि जीवात्मा का ग्रहण जान पड़ता है] (तु) तो (आविर्भूतस्वरूपः) जिस को स्वरूप का साक्षात्कार होगया है, वह है ॥

यदि कहो कि अगले वाक्य में जीव का वर्णन है, वहां कहा है कि “एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः” अर्थात् वह उत्तम पुरुष है जो आनन्दपूर्वक इस शरीर

को त्याग कर परम ज्योति (ब्रह्म) को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से संपन्न हो जाता है। इस में स्पष्ट कहा है कि जीव मुक्त होकर भी अपने स्वरूप (सत्ता) से वर्त्तमान रहता है, ब्रह्म को पालेता है, न कि वही स्वयं ब्रह्म में मिल जाता है, वा ब्रह्म हो जाता है। इस लिये यह शङ्का नहीं लगती कि वही एक आत्मा है जो कभी दहर, कभी जीव, कभी ब्रह्म कहा गया हो ॥ १९ ॥ तथा-

८३-अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

पदार्थः-(परामर्शः) [पुरुष वा आत्मा शब्द से] पर=अन्य अर्थ का ग्रहण (च) भी (अन्यार्थः) जीवात्मा के लिये ही है ॥

यदि परमात्मा से अन्य जीवात्मा न होता तो पुरुष वा आत्मा आदि शब्दों के अर्थ में परामर्श करने की ही क्या आवश्यकता होती। परामर्श तो इसी कारण है कि परमात्मा से भिन्न=अन्य जीवात्मा अर्थ भी आत्मा शब्द से मिल गया है, जहां प्रकरण की संगति हो ॥ २० ॥

८४-अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (अल्पश्रुतेः) अल्प=थोड़ा=छोटा सुना जाता है, [तब दहर परमात्मा का नाम कैसे बन सक्ता है] तो (तत्) वह (उक्तम्) कहा जाचुका है ॥

अल्पश्रुति अर्थात् उपनिषद् में जो दहर को छोटा बताया है कि "दहरं पुण्डरीकम्" छान्दोग्य ८-१-१ इस का उत्तर सूत्रकार कहते हैं कि (उक्तम्) हम पूर्व कह चुके। देखो सूत्र ३८-अर्भकौकस्त्वा० १। २। ७ ॥

यदि कहो कि आकाशादि शब्दों से आप परमात्मा अर्थ ग्रहण का यत्न क्यों करते हैं, उन २ पदार्थों में (जो लोक में आकाशादि के वाच्य हैं) क्या प्रकाशादि अपने गुण नहीं हैं, फिर साक्षात् उन्हीं का ग्रहण क्यों न किया जावे ? तो उत्तर-

८५-अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

पदार्थः-(तस्य) उस परमात्मा की (अनुकृतेः) अनुकृति=अनुकरण करने से (च) अन्यों में प्रकाशादि पाये जाते हैं ॥

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ॥ मुण्डक २। २। १० इत्यादि वचनों में कहा गया है कि परमात्मा के प्रकाश से अनुप्रकाशित होकर सब कुछ प्रकाशता

है, स्वतन्त्र नहीं । इस से भी पाया जाता है कि प्रकाशादि वह २ गुण असीमभाव से तो परमात्मा में ही हैं, उसी से ससीम अन्य आकाशादि पदार्थों में हैं, इस हेतु से आकाशादि शब्दों का मुख्य वाच्य परमात्मा है और गौण वाच्य वे वे पदार्थ हैं ॥ २२ ॥

८६—अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

पदार्थः—(अपि च) तथा च (स्मर्यते) स्मृति में कहा है ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

यजुः ३२ । १ इत्यादि श्रुतियों में ही नहीं, किन्तु "एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्" ॥ मनु १२ । १२३ इत्यादि स्मृतियों में भी अग्नि वायु आदि नामों का वाच्य परमात्मा को कहा है ॥ २३ ॥

८७—शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

पदार्थः—(शब्दात्) शब्द प्रमाण से (प्रमितः) प्रमाण किया गया (एव) ही है ॥

वेदादि शास्त्रों में अनेक स्थलों में ये परमात्मा के नाम प्रमाण किये गये हैं, यह निश्चय है । यथा—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः
स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा
बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान-
माहुः ॥ ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥

अर्थात् एक ही परमात्मा को विद्वान् लोग इन्द्र मित्र वरुण अग्नि दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् अग्नि यम और मातरिश्वादि नामों से पुकारते हैं ॥ २४ ॥

८८—हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(हृदि) हृदय में (तु) तो (अपेक्षया) अपेक्षा से [कहा है]; क्योंकि (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्य का अधिकार होने से ॥

शास्त्रों में मनुष्य का अधिकार है क्योंकि मनुष्य उन को समझ सक्ता है, इस दशा में परमात्मा को हृदय में रहने वाला कहने का तात्पर्य इतना

ही है कि शास्त्र में सुन कर मनुष्य उस को अपने हृदय में साक्षात् कर सकता है। इस अपेक्षा से अङ्गुष्ठमात्रादि शब्दों की संगति लगानी चाहिये ॥२५॥

८९-तदुपर्य्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

पदार्थः-(बादरायणः) बादरायण का कथन है कि (तदुपरि) हृदय-देश के ऊपर=बाहर (अपि) भी है (संभवात्) संभव होने से ॥

यह संभव है, असंभव नहीं कि परमात्मा हृदय के भीतर हो और ऊपर=बाहर भी हो, जैसा कि वेद में कहा है:-" तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः " यजुः ४० । ५ अर्थात् वह इस सब के भीतर और वही बाहर भी है ॥ २६ ॥

९०-विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि शङ्का हो कि (कर्मणि) कर्म में (विरोधः) विरोध है, तो (न) नहीं क्योंकि (अनेकप्रतिपत्तेः) अनेक प्रकार की प्राप्ति के (दर्शनात्) देखने से ॥

वेद में ज्ञान और कर्म (तथा उपासना) सब का वर्णन और विधान है, तब ज्ञान से कर्म का विरोध रहेगा। यह शङ्का करके सूत्रकार उत्तरार्ध में उत्तर देते हैं कि अनेक प्राप्ति देखी जाती हैं। ज्ञान से अन्य फल की प्राप्ति है, कर्म से अन्य फल की प्राप्ति। इस लिये अधिकारिभेद से ज्ञान और कर्म दोनों में विरोध नहीं ॥ २७ ॥

९१-शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

पदार्थः-(चेत्) यदि कहो कि (शब्दे) शब्द में विरोध है, तो (न) नहीं, क्योंकि (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष और अनुमानों सहित (अतः) इस शब्द प्रमाणरूप (प्रभवात्) उत्पत्ति स्थान से ॥

अर्थात् यदि यह शङ्का हो कि ज्ञान और कर्म के प्रतिपादक और निन्दक शब्द प्रमाणों में तो परस्पर विरोध है। जैसा कि-

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
मुण्डक २ । ७ ॥

अर्थः-ये यज्ञरूप होंगे निश्चय करके दृढ नहीं हैं जिन में १८ प्रकार का कर्म कहा गया है, जो अज्ञानी इस को श्रेय समझ कर फूलते हैं वे पुनः भी बुढ़ापे और मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं। इस का उत्तर यह है कि कर्म की आज्ञा का उत्पत्तिस्थान भी वेदादि शब्द प्रमाण ही है। शब्द प्रमाण अकेला भी नहीं है, प्रत्यक्ष और अनुमान सहित है ॥

शब्द ही ज्ञान का प्रभव है, शब्द ही कर्म का प्रभव (उत्पत्तिस्थान) है। ज्ञान और कर्म दोनों शब्द प्रमाण से विहित अर्थात् उत्पन्न हैं। फिर जो कर्म जिस फल के उत्पादक बताये गये हैं, उस की पुष्टि प्रत्यक्षानुमानादि से भी होती है। कर्म की निन्दा का तात्पर्य कर्म की त्याज्यता में नहीं है, किन्तु कर्म (यज्ञादि) के फल को मुक्ति की बराबरी नहीं, यही दिखाना है। जो लोग कर्मकाण्ड के ही भरोसे ज्ञान की अपेक्षा करते हैं, उन को मूढ़ इस लिये कहा है कि केवल कर्म से मुक्ति की इच्छा करते और उस कर्म मात्र का ही अभिनन्दन करते हैं ॥ २८ ॥

९२-अतएव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

पदार्थः-(अतः) इस से (एव) ही (नित्यत्वम्) नित्यता है ॥

नित्यता का अर्थ यहां अखण्डनीयता है। प्रत्यक्षानुमानादि सब, शब्द प्रमाण (वेद) के सहायक हैं, अतएव वह खण्डित नहीं हो सकता ॥

प्रश्न-तो क्या वेद प्रलय में भी रहते हैं वे क्यों प्रति सृष्टि के आरम्भ में नये सिरे से उत्पन्न होते हैं? उत्तर-

९३-समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधोदर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

पदार्थः-(समाननामरूपत्वात्) एक से नाम और रूप होने से (आवृत्तौ) बार २ आवृत्ति में (अपि) भी (अविरोधः) विरोध नहीं (च) और (स्मृतेः) स्मृति के (दर्शनात्) देखने से भी ॥

स्मृत्यादि ग्रन्थों में भी और वेदों में भी देखा जाता है कि प्रलय के पश्चात् प्रत्येक सृष्टि की आवृत्ति में वेद और जगत् पूर्व सृष्टि के समान नाम और रूप वाला होता है। इस सृष्टि में जैसा वेद का शब्द अर्थ और सम्बन्ध देखा जाता है, वैसा ही पूर्व सृष्टि में था तथा जगत् के सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, पर्वत, नदी, समुद्रादि भी पूर्व सृष्टि के समान ही होते हैं। शङ्करभाष्य—

"प्राणियों के सुख पहुंचाने को धर्म का विधान किया जाता है और दुःख हटाने के लिये अधर्म का निषेध किया जाता है। देखे सुने सुख दुःख के विषय भी राग द्वेष होते हैं, न कि विलक्षण विषय के। इस कारण धर्म, अधर्म की फलरूपसृष्टि जब बनने लगती है तब पूर्व सृष्टि के समान ही बनती है। स्मृति में भी है कि-

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
हिंस्राऽहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माऽधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते॥
(महाभारत १२-८५ २५-७)

उन में जिन्हों ने जो कर्म पूर्व सृष्टि में किये थे, वार वार उत्पन्न हुवे वे लोग उन्ही कर्मफलों को प्राप्त होते हैं। हिंसक, अहिंसक, मृदु, क्रूर, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, इन भावों से भावित लोग उस २ को प्राप्त होते हैं, इस लिये वही उस को रुचता है॥

प्रलय होता हुआ भी यह जगत् शक्तिशेष ही प्रलय होता है और शक्तिमूलक ही उत्पन्न होता है, नहीं तो अकस्मात् का प्रसंग होगा और शक्तियां भी अनेक आकार की कल्पना नहीं की जासकतीं और इस कारण नष्ट हो हो कर भी उत्पन्न होते हुवे पृथिवी आदि लोकों के प्रवाहों, देव तिर्यक् मनुष्यरूप प्राणिसमूहों के प्रवाहों और वर्ण आश्रमों के धर्म और उन के फलों की व्यवस्थाओं का प्रत्येक सृष्टि में नियतभाव, इन्द्रियों के विषय संबन्ध के नियत होने के समान प्रतीत करना चाहिये। इन्द्रियों और विषयों के संबन्ध के व्यवहार को प्रतिसृष्टि में नये प्रकार का होना जो छठी इन्द्रिय और विषय जैसा हो, सोचा नहीं जासकता। इस कारण सब कल्पों का व्यवहार एकसा होने से और अन्य कल्पों के व्यवहारों का अनुसंधान करने में समर्थ ऐश्वर्यवान् लोगों (ऋषियों) के एकसे ही नाम और रूप विशेष प्रकट होते हैं और नाम रूप के समान होने से वार वार आवृत्ति में भी शब्द की प्रामाणिकता आदि में कोई विरोध नहीं और नामरूप की समानता को श्रुति और स्मृति दिखलाती हैं-"सूर्याचन्द्रमसौ

धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" (ऋ० १० । १९० । ३) इति । जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्रादि (नाम रूप वाला) जगत् बनाया था, वैसा इस कल्प में भी परमेश्वर ने बनाया है, यह अर्थ है" इत्यादि शङ्कर भाष्य के एक देश का भावार्थ हमने लिख दिया है। तथा शङ्कर भाष्य में ही महाभारत के उद्धरण भी दर्शनीय हैं। यथा-

यथर्त्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथाभावा युगादिषु ॥
(महाभा० १२ । ८५ । ५०)

अर्थात् जिस प्रकार ऋतु बदलने पर ऋतुओं के चिन्ह अनेक प्रकार के ज्यों के त्यों देखे जाते हैं, इसी प्रकार कल्प के आदि समयों में भाव होते हैं॥ वेद भी इसी प्रकार पूर्वकल्प ही के समान उपयोगी होने और आवश्यक होने से ज्यों का त्यों ही प्रकाशित होता है, जो नित्य है ॥

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ॥

स्वयंभू परमात्मा ने आदि और अन्त (समयकृत) से रहित=नित्य स्वरूप वाणी (वेद) को प्रकाशित किया ॥

शङ्कर भाष्य में इस पर महाभारत १२ । २३३ । २४ का पता दिया गया है। मनु में भी इस आशय के श्लोक प्रथमाध्याय में पाये जाते हैं। यथा-

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥१॥२१॥

उस (परमात्मा) ने सब के नामों और कामों को पृथक् २ आदि में वेदों के अनुसार ही रचा, तथा पृथक् २ संस्थाओं को भी॥ तथा मनु १ । ३० में-

यथर्त्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥

इस का अर्थ ऊपर लिखे महाभारत के श्लोक के समान ही है ॥ शङ्कर भाष्य में महाभारत का एक और श्लोक भी उद्धृत है जो मनु १ । २१ के समानार्थक है। यथा-"नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः" महाभारत १२ । २३३ । २५ ॥

क्योंकि प्रत्येक सृष्टि में एक समान ही सूर्य चन्द्रादि के आकार और वेदोक्त उन के नाम रूप गुण कर्म स्वभाव बार २ होते हैं, इसी कारण वेद और संसार को प्रवाह से नित्यता भी पूर्व सूत्र ८९ में कही है। जैसा इस कल्प में सूर्य का आकार है, जैसे गुण हैं, जो काम सूर्य करता है, जैसा उस का स्वभाव है, जो उस का सूर्य रवि भास्कर आदि नाम है, जैसा उस का वेद में वर्णन है, सब का सब एक समान ही सब कल्पों में होता है, तब स्वयं यह बात भी प्रमाणित होती है कि बार २ आवृत्ति वाला जगत् जैसे एक सा प्रत्येक कल्प में होने से प्रवाहनित्य है, वैसे वेद भी जो इस सृष्टि के नियमों क्रमों आकारों कामों गुणों और स्वभावों तथा धर्मों का वर्णन करता है, प्रवाहनित्य है ॥ ३० ॥

९४–मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

पदार्थः–(मध्वादिषु) मधु आदि में (असंभवात्) संभव न होने से (जैमिनिः) जैमिनि मुनि (अनधिकारम्) अधिकार न होना [कहते हैं] ॥

छान्दोग्य ३ । १ । १ में कहा है कि–" असौ वा आदित्यो देवमधु " अर्थात् यह सूर्य देवों की मिठाई है। तब मनुष्य लोक में जो मधु शब्द का अर्थ है, देवलोक में वह नहीं है। अब सब लोकों, सब कल्पों और सब समयों में वेद का समान अधिकार नहीं रहता। यह जैमिनि मुनि की शङ्का है ॥ ३१ ॥ तथा

९५–ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

पदार्थः–(ज्योतिषि) प्रकाश में (भावात्) होने से (च) भी ॥

अर्थात् जैमिनि मुनि का पूर्वपक्ष इस दूसरे हेतु से भी है कि सूर्यलोक सदा प्रकाश में है, तब वहां वेदोक्त प्रातः सायं आदि व्यवहार का अधिकार नहीं हो सकता ॥ ३२ ॥ उत्तर–

९६–भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

पदार्थः–(बादरायणः) बादरायण मुनि (तु) तो (भावम्) वेदाधिकार होने को [कहते हैं] (हि) क्योंकि (अस्ति) है ही ॥

अर्थात् किसी न किसी लोक में जहां आवश्यकता और संभव है यथा योग्य वेदाधिकार है ही है, एक लोक में सायं प्रातः न हो, एक लोक वा कई लोकों में मधु का अर्थ अन्य रहो ॥ ३३ ॥

९७–शुगऽस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥३४॥

पदार्थः–(अस्य) इस जानश्रुति का (शुक्) शोक (सूच्यते) सूचित होता है (हि) क्योंकि (तदनादरश्रवणात्) उस का अनादर सुनने से (तदाद्रवणात्) उन के भागा आने से ॥

इस सूत्र पर रैक्व ऋषि और जानश्रुति की यह कथा है जो छान्दोग्योपनिषद् प्रपा० ४ में कही है कि–जानश्रुति बड़ा दानी क्षत्रिय था, वह रैक्व ऋषि के पास घबराया हुआ शोकाकुल आया और ब्रह्मोपासना की विद्या पूछी और कहा कि यह बहुत सा धनादि लीजिये । ऋषि ने कहा अरे शूद्र ! धनादि तुम्हारा तुम्हीं रक्खो । वह लौट गया और फिर दूसरी वार अपनी पुत्री सहित उन के पास आया । उन्हों ने विद्या दान दिया । उस पर सूत्रकार व्यास मुनि यहां वेदान्तदर्शन में यह कहते हैं कि जानश्रुति को जो शूद्र कहा सो वर्ण शूद्र के कारण नहीं किन्तु अनादर सुनने और शोक से भागकर आया होने से शूद्र कहा है । अर्थात् शुचा द्रवति=शोक से भागता है=वह शूद्र । इस अर्थ में शूद्र शब्द का प्रयोग किया है, वर्णवाचक नहीं । तात्पर्य यह है कि शूद्र समझ कर अनधिकारी जानकर उस का अनादर नहीं किया ॥ ३४ ॥ तथा च–

९८–क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

पदार्थः–(उत्तरत्र) आगे प्रकरण में (क्षत्रियत्वावगतेः) क्षत्रिय होना समझ पड़ने से (च) भी । क्योंकि (चैत्ररथेन) चैत्ररथ क्षत्रिय के साथ (लिङ्गात्) पहचान से ॥

चैत्ररथ क्षत्रिय के साथ जानश्रुति का समान वर्णों कैसा वर्त्ताव खान पान आसन अध्ययन पाये जाने से समझा जाता था कि वह शूद्र वर्ण नहीं, क्षत्रिय था ॥ ३५ ॥

९९–संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

पदार्थः–(संस्कारपरामर्शात्) उपनयनादि संस्कार के विचार से (च) और (तदभावाभिलापात्) संस्कार न होने के कथन से ॥

अर्थात् जिस के उपनयनादि संस्कार होते हैं, उसी को वेद विद्या का अध्ययन विहित है, उपनयनादि के अभाव वाले को निषेध कथन किया है। जानश्रुति संस्कारहीन शूद्र न था, किन्तु शोक से भागा आया=शूद्र नाम से इस कारण सम्बोधन किया। "न च संस्कारमर्हति" मनु १०। ४ के अनुसार शूद्र को संस्कार का अभाव कहा गया है। "नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते" मनु । इत्यादि स्मृतियों में अनुपनीत को वेदाध्यापन का निषेध है। परन्तु शूद्रता गुणकर्मस्वभाव के विपरीत जन्म पर निर्भर नहीं ॥ "स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः" मनु २। १६ इत्यादि स्मृतियों में इसी जन्म में वर्ण बदलना कहा गया है ॥ ३१ ॥

१००—तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

पदार्थः-(तदभावनिर्धारणे) शूद्रत्व के अभाव निश्चित होने पर (प्रवृत्तेः) अध्यापन में प्रवृत्ति से (च) भी ॥

छान्दोग्य ४। ४। ५ में लिखा है कि "नैतदब्राह्मणोविवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये, न सत्यादगाः" अर्थात् गौतम जी ने जाबालि से कहा कि यद्यपि जन्म से तेरा गोत्र तुझ को ज्ञात नहीं, परन्तु तू सत्य से नहीं डिगा, ऐसा वह नहीं कर सकता जो ब्राह्मण न हो, इस लिये तू समिध् आदि सामग्री लेआ, तेरा उपनयन कराऊंगा। इस से पाया जाता है कि जन्म से ब्राह्मणत्व का निश्चय न होने पर भी सत्यभाषणादि गुणकर्मस्वभावों से जाबालि को मान लिया गया कि यह शूद्र नहीं है और उस के उपनयनपूर्वक उस को वेदविद्या का अध्यापन कराया गया ॥ ३१ ॥

१०१—श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

पदार्थः-(स्मृतेः) मनु आदि स्मृति से (श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्) अध्ययन और अध्यापनार्थनिषेध से (च) भी ॥

पूर्व सूत्र ३६ के भाष्य में स्मृति के वचन लिख चुके हैं ॥ ३८ ॥

प्रसङ्गप्राप्त कुछ चर्चा शूद्रानधिकार की चली थी, वह समाप्त करके अब पुनरपि २५ वें सूत्र में जो परमात्मा का प्रकरण था, चलाया जाता है:-

१०२—कम्पनात् ॥ ३९ ॥

पदार्थः-(कम्पनात्) कंपाने से। [प्राण परमात्मा का नाम है] ॥

कठोपनिषद् २। ६। २ में कहा है कि—

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राणएजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

यह सब जगत् उत्पन्न होकर प्राण में हिलता जुलता है। (वह प्राण) उठे हुये वज्र के समान बड़ा भयङ्कर है, जो इस को जानते हैं मुक्ति पाते हैं॥ अब विचारणा यह है कि यहां यह प्राण क्या वस्तु है? प्राणवायु, वा बिजुली वा परमात्मा? उत्तर यह है कि (कम्पनात्) कंपाने वाला=चेष्टा कराने वाला होने से यहां परमात्मा का वर्णन है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि—

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्। इत्यादि।

परमात्मा सर्वोपरि है, उसी के भय से अपना २ काम वायु आदि कर रहे हैं। इसी परमात्मा को प्राण=जीवनाधार कहा है॥

प्राणस्य प्राणम्।

बृहदा० ४। ४। १८ में परमात्मा को प्राण का प्राण कहा है। कठोप० २। ५। ५ में भी कहा है कि—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥

कोई प्राणी न तो स्वतन्त्र प्राणवायु से जीवता है, न अपान से, किन्तु अन्य (परमात्मा) ही से जीवते हैं, जिस के आश्रय में प्राण और अपान दोनों वायु हैं। इत्यादि में प्राण=जीवनमूल परमात्मा को कहा है। तथा—परमात्मा के भय को प्रतिपादन करने वाले अन्य भी अनेक वचन हैं। यथा—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

इस के भय से अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु भागे फिरते हैं। जब वायु भी परमात्मा के भय से भागा फिरता है, तब इस भयप्रद को वायु नहीं समझ सकते, जिस का विचारणीय वाक्य में वर्णन है। और भी—

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

इस का अर्थ भी ऊपर वाले वचन के तुल्य ही है ॥ ३९ ॥

१०३–ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

पदार्थः–(दर्शनात्) देखने से (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप है ॥

परमात्मा सब का साक्षी द्रष्टा होने से ज्योतिःपदवाच्य ज्योतिःस्वरूप है। विशेष व्याख्यान सूत्र १ । १ । २४ में आचुका है ॥ ४० ॥

१०४–आकाशोऽर्थान्तरादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पदार्थः–(अर्थान्तरादिव्यपदेशात्) अन्य अर्थों के पृथक् कथन आदि से (आकाशः) परमात्मा नाम आकाश है ॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा ॥ छां० ८ । १४ । १ ॥

इस में कहा है कि नाम और रूप से भिन्न ब्रह्म अमृत आत्मरूप है, जो नाम और रूप का निर्वाहक आकाशनामा है । इस में नाम रूप से भिन्न वस्तु को ब्रह्म और आकाश कहा है । अतएव परमात्मा का नाम ऐसे प्रकरणों में आकाश होता है । सूत्र १ । १ । २२ का ही विशेष प्रपञ्च इस सूत्र में है । इस लिये उस के भाष्यस्थ प्रमाणों को इस में भी पढ़ने वाले लगाकर पढ़ें ॥ ४१ ॥

१०५–सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

पदार्थः–पूर्वसूत्र से व्यपदेशात् पद की अनुवृत्ति करनी चाहिये (सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः) सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में (भेदेन) भेद के साथ [व्यपदेश=कथन से] ॥

विज्ञानमय आत्मा शब्द से जीवात्मा का ग्रहण है वा परमात्मा का? क्योंकि बृहदा० ४ । ३ । ७ में " कतमआत्मेति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः " यहां से आत्मविषयक चर्चा करते २ विस्तार से आत्मचर्चा की गई है, उस में संशय यह है कि वह आत्मचर्चा जीवात्मा की है वा परमात्मा की? उत्तर–परमात्मा की । क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति जहां जीवात्मा की कही गई हैं, वहां परमात्मा को इस जीवात्मा से भेदपूर्वक दूसरा बताया है । १–सुषुप्ति का उदाहरण–

अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो
न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् ॥

यह जीवात्मा=पुरुष, प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) की गोद में लिपटा हुआ, न कुछ बाह्यविषय को अनुभव करता, न आन्तरिक विषय को। यहां पुरुष शब्द से जीवात्मा और प्राज्ञ आत्मा शब्द से परमात्मा कह कर भेद स्पष्ट किया गया है। तथा २-उत्क्रान्ति=देहत्याग समय का उदाहरण—

अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना
ऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति ॥

यह देहधारी आत्मा (जीवात्मा), सर्वज्ञ आत्मा (परमात्मा) की गोद में चढ़ा हुआ इस देह को त्यागता हुआ जाता है ॥

इस प्रकार यहां देहत्याग=उत्क्रान्ति में भी दो आत्मा भेद से कथन किये गये हैं, इस लिये विज्ञानमय आत्माशब्द से जहां परमात्मा का ग्रहण है, वहां जीवात्मा उस से भिन्न समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

१०६—पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

पदार्थः-(पत्यादिशब्देभ्यः) पति आदि शब्दों से परमात्मा का ग्रहण है ॥

सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। बृह० ४। ४। २२ इत्यादिवाक्यों में अधिपति, ईशान, वशी इत्यादि शब्द आते हैं, जिस से परमात्मा का ही ग्रहण स्पष्ट होता है ॥ ४३ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते वेदान्तदर्शन
भाषानुवादे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः
॥ ३ ॥

ओ३म्

अथ प्रथमाध्यायस्य

चतुर्थः पादः

वाक्यसमन्वय नामक प्रथमाध्याय का चतुर्थपाद अब आरम्भ करते हैं॥

१०७—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-रूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

पदार्थः–(एकेषाम्) कई एकों के मत में (आनुमानिकम्) अनुमानसिद्ध प्रकृति ही जगत् का स्वतन्त्रकर्त्ता है, (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो सो (न) नहीं, क्योंकि (शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः) शरीर का रूपक विन्यास किया हुवा [बांधा हुआ] ग्रहण किये जाने से (दर्शयति) दिखलाता (च) भी है ॥

कोई लोग अनुमान से कहते हैं कि प्रकृति ही अपने तीनों गुणों से स्वतन्त्र जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय कर सकती है, उस का निषेध करके सूत्रकार कहते हैं कि यह अनुमान ठीक नहीं घटता । क्योंकि कठोपनिषद् में शरीर को रथ का रूपक बांधकर दिखलाया गया है कि आत्मा प्रकृति से भिन्न स्वतन्त्र है । प्रकृति परतन्त्र=आत्मा के अधीन है । यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
कठोप० १ । ३ । ३–४ ॥

आत्मा को रथ का स्वामी जानो, और शरीर को रथ । बुद्धि को सारथि जानो और मन को रस्सी (लगाम) । इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं और विषयों को गन्तव्य देश । आत्मा इन्द्रिय और मन को मिलाकर विद्वान् लोग 'भोक्ता' कहते हैं ॥

इसी प्रकरण में आगे दिखाया है कि—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
(कठोप० १ । ३ । १०—११)

इन्द्रियों से सूक्ष्म तन्मात्रायें हैं और उन से सूक्ष्म मन है और मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म महान् आत्मा (महत्तत्व) है, महत्तत्व से सूक्ष्म अव्यक्त (प्रकृति) है, प्रकृति से सूक्ष्म पुरुष (आत्मा) है। पुरुष से सूक्ष्म कोई नहीं, वह परा गति है, वह अन्त है ॥

इस में स्पष्ट दिखाया गया है कि प्रकृति से परे सूक्ष्म पुरुष है और प्राकृत विकार शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियादि को रथी आत्मा के अधीन बताया है। अतएव प्रकृति को स्वतन्त्र कर्त्ता आदि नहीं मान सकते ॥१॥ तथा—

१०८—सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

पदार्थः-(सूक्ष्मं) सूक्ष्म (तु) ही है, क्योंकि (तदर्हत्वात्) अव्यक्त शब्द के योग्य होने से ॥

यदि कहो कि आत्मा को रथी और शरीर को रथ कहा गया है। दार्ष्टान्त में रथी आत्मा और रथ=शरीर=प्रकृति हुई, फिर प्रकृति का नाम अव्यक्त कैसे हो सकता है। शरीर तो व्यक्त=स्पष्ट=दृश्यमान है, ऐसे होने से प्रकृति भी दृश्यमान हो तो अव्यक्तशब्दवाच्य न रहेगी ? उत्तर—जैसे सूक्ष्म शरीर दृश्यमान नहीं वैसे प्रकृति जो जगत् की प्रागवस्था है, जिस को माया भी कहते हैं, अव्यक्त अव्याकृत प्रधान प्रकृति आदि शब्दों से पुकारने योग्य है ॥ २ ॥

प्रश्न-यदि ऐसा है तो जगत् का स्वतन्त्र कर्त्ता प्रधान=प्रकृति ही क्यों न मानली जावे ? उत्तर—

१०९—तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तदधीनत्वात्) आत्मा के अधीन होने से (अर्थवत्) सार्थक है ॥

प्रकृति की सार्थकता परमात्मा की अधीनता में है, स्वतन्त्रता में नहीं। इस पर शङ्करभाष्य देखने योग्य है। यथा–

"अत्राह–यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणवाद एवं सत्यापद्येत। अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति॥

अत्रोच्यते–यदि वयं स्वतन्त्रां काञ्चित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चाऽवश्यमभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति॰"

शङ्करभाष्यार्थः–यहां कोई कहता है कि–यदि यह जगत् अप्रकट नाम रूप वाला, बीजरूप, पूर्व अवस्था वाला, अव्यक्तशब्द से पुकारने योग्य मान लिया जावे, और तत्स्वरूप से शरीर को भी अव्यक्तशब्दवाच्य होने की प्रतिज्ञा करली जावे, तब तो वही प्रधानकारणवाद (जडकारणवाद) ऐसा होने पर आवेगा, क्योंकि इस ही जगत् की प्रागऽवस्था के प्रधानत्व को मानलेने से॥

इस के उत्तर में कहा जाता है–यदि हम किसी स्वतन्त्र पूर्वावस्था को जगत् का कारण मान लेते, तब तो प्रधानकारणवाद का प्रसङ्ग करते, हम ने तो परमेश्वर के अधीन जगत् की प्रागवस्था (माया=प्रकृति=अव्यक्त=प्रधान) मानी है, न कि स्वतन्त्र और वह अवश्य माननी ही चाहिये क्योंकि सार्थक है। उस के बिना परमात्मा का जगत्कर्त्ता होना सिद्ध नहीं होता॥

शङ्कराचार्य के इस स्पष्ट ईश्वर के निमित्त कारणत्व और प्रकृति के उपादान कारणत्व मानने लिखने को देखकर भी न जाने क्यों अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद उन्हें में मान लिया जाता है। पाठक लोग विचार करें॥

११०-ज्ञेयत्वाऽवचनाच्च ॥ ४ ॥

पदार्थः-(ज्ञेयत्वाऽवचनात्) ज्ञेय होना न कहने से (च) भी ॥

उपनिषदों में मुक्ति की प्राप्ति के लिये परमेश्वर को जानने योग्य कहा है, प्रकृति को नहीं, इस लिये भी प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, परमेश्वराधीन ही है ॥

यहां विना प्रयोजन सांख्यमत का खण्डन शङ्करभाष्य में लिखा गया है। यथा-

"ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते, गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः। न हि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति वदन्ति। न चेदमिहाऽव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते। पदमात्रं ह्यव्यक्तशब्दो, नेहाऽव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। न चानुपदिष्टपदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम् ॥"

अर्थः-सांख्याचार्यों ने तो प्रधान (प्रकृति) को ज्ञेयमात्र से स्मरण किया है, वे कहते हैं कि गुण (प्रकृति) और पुरुष के अन्तर (भेद) को जानने से मुक्ति होती है। क्योंकि प्रकृति के स्वरूप को विना जाने प्रकृति से पुरुष का अन्तर (फ़र्क़=भेद) नहीं जाना जासकता। और कहीं कहते हैं कि ऐश्वर्यविशेष की प्राप्ति के लिये प्रकृति का जानना आवश्यक है। परन्तु यहां यह अव्यक्त जानने योग्य नहीं कहा गया। केवल शब्द (कथन मात्र) को अव्यक्त शब्द है, "यहां अव्यक्त (प्रकृति) ज्ञेय और उपास्य है" ऐसा वाक्य नहीं ॥

हमारे ज्ञान में तो विना कारण ही सांख्यों को फटकार बताई गई है। यदि सांख्य कहते हैं कि पुरुष=परमात्मा का ठीक ज्ञान तब हो सक्ता है जब कि प्रकृति का भी ज्ञान हो, क्योंकि दोनों में अन्तर है, दोनों के ज्ञान से जड़ चेतन का यथार्थ भिन्न भिन्न ज्ञान होगा। इसमें सांख्यों ने बुरा क्या कह दिया और यदि उन्हों ने प्रकृति और उस के विकारों के ज्ञान से अनेक शिल्पादि ज्ञान में सहायता मिलने से विशेष ऐश्वर्य संसार का मिलना मान लिया, तब भी क्या अपराध कर दिया। ब्रह्म के स्थान में

तो प्रकृति को स्वतन्त्र कर्ता वा मुक्तिदाता नहीं माना, तब उसके ऊपर छींटा मारना आवश्यक न था। इस प्रकार के छींटे जो अनेक स्थानों पर श्री शङ्कराचार्य देते गये, इन से सर्व साधारण को अन्य भ्रान्तियों के अतिरिक्त एक यही भ्रान्ति भारी हो पड़ती है कि वेदान्त में अन्य शास्त्रों (दर्शनों) का खण्डन है, दर्शन एकमत नहीं। परन्तु मूल सूत्रों में कोई स्वांशविरोध नहीं है ॥ ४ ॥

१११—वदतीति चेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (वदति) श्रुति कहती है, तो (न) नहीं (हि) क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण से (प्राज्ञः) चेतन है ॥

यदि कहो कि-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते
(कठ २ । ३ । १५)

इत्यादि श्रुति कहती है कि अव्यक्त (प्रकृति) के जानने से मुक्ति होती है क्योंकि अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अविनाशी, अरस, अगन्ध, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से परे, नित्य, निश्चल; ये विशेषण प्रकृति में घटते हैं, उस प्रकृति के जानने से मुक्ति कही गई। तब यह कैसे कहते हैं कि (सूत्र ४ में) प्रकृति को ज्ञेय नहीं कहा ? इस सूत्र (५) में उत्तर यह है कि कठोपनिषद् में इस वाक्य के प्रकरण से चेतन परमात्मा (प्राज्ञ) का ग्रहण है, प्रकृति का नहीं ॥

यहां भी वृथा सांख्यों का नाम लिया है कि सांख्य लोग उक्त श्रुति वाक्य से प्रकृतिज्ञान के द्वारा मुक्ति होना बताते हैं, किन्तु सांख्यसूत्रों में तो ऐसा कहीं माना नहीं। एक पूर्व पक्ष जो हर किसी का हो सकता है सांख्य का उसको सिद्धान्त कथन मान कर वेदान्तसूत्र से उसका खण्डन करना युक्त न था। जैसा कि शङ्करभाष्य में कहा है कि-

अत्राह सांख्यः-ज्ञेयत्वावचनादित्यसिद्धम्। कथम् ? श्रूयते ह्युत्तरत्राऽव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्-अशब्दमस्पर्शमित्यादि ॥

जिस पूर्व पक्ष को उठा कर व्यास मुनि उत्तर देते हैं, उस पूर्व पक्ष को सांख्य का कथन (सिद्धान्त) बताना सत्य नहीं है, सांख्यदर्शन में कहीं भी "अशब्दमस्पर्शमित्यादि" वचन को प्रधानकारणवाद में सिद्धान्त मान कर कथन नहीं किया ॥ ५ ॥

११२–त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

पदार्थः–(च) और (एवम्) इस प्रकार (त्रयाणां) तीन पदार्थों का (एव) ही (उपन्यासः) कथन=उत्तर (च) और (प्रश्नः) प्रश्न भी है॥

मृत्यु और नचिकेता के संवाद में नचिकेता के ३ तीन ही प्रश्न हैं, अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा, उन के ३ तीन ही उत्तर हैं। तीसरे परमात्मा विषयक प्रश्न का यह उत्तर है, जो "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि वचन में दिया गया है। प्रधान वा प्रकृति विषयक न तो प्रश्न है और उसी से न उत्तर है। तब इस वचन में प्रधान के कारणवाद की शङ्का वा पूर्व पक्ष नहीं होसकता ॥ ६ ॥

११३–महद्वच्च ॥ ७ ॥

पदार्थः–(महद्वत्) महत् शब्द के समान (च) भी ॥

जैसे महत् शब्द महत्तत्त्व का वाचक है, परन्तु "महान्तं विभुमात्मानं" (कठ १। २। २२) में आया महत् शब्द महत्तत्त्व का वाचक नहीं। इसी प्रकार अव्यक्तादि पद भी अपने प्रकरण में प्रकृतिवाचक हों, परमात्मा के प्रकरण में प्रकृतिवाचक मान कर अर्थ करना योग्य नहीं ॥ ७ ॥

११४–चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पदार्थः–(अविशेषात्) विशेष न कहने से (चमसवत्) चमस के समान ॥

जैसे चमस नाम चमचे का है, और बृह० २। २। ३ में चमस का लक्षण यह कहा है कि—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः ।

अर्थात् जिस में नीचे बिल (गर्त्त) हो, और ऊपर बुध्न=हत्थी=हैंडिल हो, वह चमस कहाता है। चमस के इस लक्षण से कहीं पर्वत की गुहा में वा अन्यत्र कहीं नीचे बिल और ऊपर बुध्न=हत्थी बनी हो तो उस को चमस नहीं कह सक्ते। इसी प्रकार अव्यक्त का अर्थ इन्द्रियातीत होने से प्रकृति को अव्यक्त कहो, परन्तु परमात्मप्रकरण में आये ऐसे शब्दों से प्रकृति का

ग्रहण नहीं कर सके, किन्तु अव्यक्तादि शब्द अविशेष=सामान्य से सब में प्रयुक्त होते हैं, प्रकरणानुसार अर्थ करना चाहिये ॥ ८ ॥

११५–ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

पदार्थः-(ज्योतिरुपक्रमा) आरम्भ जिस का ज्योति है, (तु) निश्चय करके (एके) कोई आचार्य (तथा हि) वैसा ही (अधीयते) पाठ करते हैं ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः
सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनु
शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

(श्वेताश्वतर ४ । ५) इस उपनिषद् में जीवात्मा परमात्मा और प्रकृति तीनों को अज=अजन्मा वा अनादि कहा है, तब क्या कहीं अज विशेषण से जीवात्मा के प्रकरण में परमात्मा का वा परमात्मा के प्रकरण में प्रकृति का ग्रहण कोई कर सकता है, नहीं, क्योंकि कई आचार्यों ने अपने पाठ में ज्योति से उपक्रम=आरम्भ करके स्पष्ट पाठ पढ़ा है । जैसे कि छान्दोग्य ६ । ४ । १ में तेज अप् और अन्न का स्वरूप स्पष्ट करने को कहा है कि—

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं
तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य ॥

अर्थात् अग्नि की लपट में लाल रङ्ग तेजस्तत्त्व का, श्वेत जलतत्त्व का और काला अन्न का रूप है । उसी को अन्यत्र सत्त्व, रज, तम का शुक्ल रक्त कृष्ण रूप मानकर गुणत्रयसाम्यावस्था वाली प्रकृति का कथन “अजामेकां लो०” इत्यादि वाक्य में हो जाता है । अजा शब्द के प्रयोग मात्र से प्रकृति को स्वतन्त्र जगत् का कारण नहीं कह सकते ॥ ९ ॥

११६–कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

पदार्थः-(कल्पनोपदेशात्) कल्पनापूर्वक उपदेश से (च) भी (मध्वादिवत्) मधु आदि कल्पित उपदेश के समान (अविरोधः) विरोध नहीं ॥

यदि कोई कहे कि अजा शब्द से बकरी, और अज शब्दों से बकरों का अर्थ जान पड़ता है, तब विरोध का परिहार क्या होगा तो सूत्रकार उत्तर देते हैं कि यह बकरे बकरी के से रूपककल्पना करके उपदेश है, जैसे मधु

आदि शब्दों में कल्पनापूर्वक उपदेश है । आदित्य जो मिठाई नहीं है, उस को मधु कहा है । वाणी जो गौ नहीं है, उस को गौ के रूपक में कहा जाता है । इसी प्रकार यहां भी प्रकृति को बकरी नहीं उस को बकरी के समान चितकबरी अनेक रङ्ग की और अनेक रङ्ग के अपने से सन्तानों वाली तथा पति वाली कहा है ॥ १० ॥

११७–न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

पदार्थः-(नानाभावात्) अनेक होने से (च) और (अतिरेकात्) बच रहने के कारण (संख्योपसंग्रहात्) संख्या=गणना के साथ कथन करने से (अपि) भी (न) नहीं कह सके [कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्त्ता है] ॥

जिस परमात्मा रूप आधार में आधेय रूप से प्रकृति और जीव रहते हैं, उसी आधार में कहीं एक प्रकृति के बदले अन्य ५ पांच संख्या वाले पदार्थों की भी स्थिति कही गई है, इस से १ प्रकृति के बदले ५ पांच संख्या के उपसंग्रह से विरोध आवेगा । उत्तर यह है कि विरोध नहीं, क्योंकि (नानाभावात्) एक प्रकृति के अनेक हो जाने से अनेक कथन करना विरुद्ध नहीं तथा पांच संख्या भी अटल नहीं । यथा—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्यआत्मानं विद्वान्ब्रह्माऽमृतोऽमृतम् ॥

(बृह० ४ । ४ १७)

जिस में पांच पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित है, उसी को, अमर चेतनस्वरूप (मैं), अमर ब्रह्म आत्मा मानता हूं ॥

इस में पञ्चजन शब्द से ५ मनुष्य नहीं लेने किन्तु अगले सूत्र में कहेंगे कि प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन इन ५ को यहां पञ्चजन कहा है । परन्तु ५ पांच पञ्चजन कहने से भी आधेयरूप से ५ ही पदार्थों को नहीं कहा, किन्तु (अतिरेकात्) जीवात्मा और आकाश भी ५ के अतिरिक्त पढ़े हैं, तथा एक प्रकृति के नाना रूप होने से एक के पांच कहना भी विरुद्ध नहीं ॥

इस सूत्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने सांख्यमत का अकारण खण्डन किया है । क्योंकि सांख्य में २५ तत्त्वों का गण अवश्य कहा है, परन्तु उस संख्या के संग्रह से भी एक प्रकृति के अनेक रूप होजाने से संख्यापूर्त्ति हो जायगी, विरोध नहीं । जैसा कि यहां व्यास जी (नाना

भावात्) हेतु देकर संख्या कथन करने वालों का समाधान करते हैं, न कि खण्डन। सांख्य के किसी टीकाकार ने "पञ्च पञ्चजनाः" का ५×५=२५ अर्थात् पांच गुणे पांच=बराबर २५ अर्थ किये हैं, इस का पता तो शङ्कर भाष्य में दिया नहीं, लम्बे चौड़े व्याख्यान में देर तक यही लिखते रहे हैं कि पांच पञ्चजन का अर्थ पांच ही है, २५ नहीं। हम कहते हैं कि सांख्य के किस सूत्र में पांच पञ्चजन का २५ अर्थ किया है? कहीं नहीं तब सांख्य के नाम से खण्डन करना और उस को अवैदिक सिद्ध करना प्रयोजनीय नहीं था। देखिये हमारा सांख्यभाष्य सूत्र (६१) ॥ ११ ॥

प्रश्न—ये ५ पञ्चजन कौन हैं? क्या ५ मनुष्य हैं? उत्तर—नहीं। क्योंकि—

११८—प्राणादयोवाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

पदार्थः-(वाक्यशेषात्) आगे शेष वाक्य से (प्राणादयः) प्राणादि ५ पञ्चजन हैं ॥

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्या-ऽन्नं मनसोये मनोविदुः" बृह० माध्य० ४ । ४ । २१

इन वाक्य शेष से १ प्राण २ चक्षु ३ श्रोत्र ४ अन्न और ५ मन; इन ५ का नाम पूर्वोक्त वाक्य में पञ्चजन है ॥ १२ ॥

यदि कहो कि जिन के पाठ में अन्न की गणना नहीं, उन के पाठ में ५ पञ्चजन किस से पूरे होंगे? तो उत्तर—

११९—ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

पदार्थः-(एकेषाम्) किन्हीं के पाठ में (अन्ने) अन्न शब्द (असति) न होने पर (ज्योतिषा) ज्योतिः शब्द से [५ की पूर्त्ति हो जायगी] ॥

माध्यन्दिन शाखा वालों के पाठ में तो अन्न शब्द है, परन्तु काण्व शाखा वालों के पाठ में ज्योति को गिन कर ५ की पूर्त्ति हो जायगी। क्यों कि उनके पाठ में "यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः" से पूर्व मन्त्र में ब्रह्मस्वरूपनिरूपणार्थ ही ज्योतिः शब्द का पाठ है, "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिः"। यदि कहो कि काण्वों केवा ज्योतिः शब्द पाठ माध्यन्दिनों का भी है, फिर क्यों माध्यन्दिनों के पाठ में ज्योति शब्द नहीं जोड़ते, जोड़ें तो ५ के ६ होंगे। शङ्कराचार्य कहते हैं कि काण्वों के पाठ में अन्न शब्द नहीं, इस लिये अपेक्षा है

कि पूर्वपाठ से ज्योतिः शब्द की अनुवृत्ति करके ५ की पूर्त्ति आवश्यक है, माध्यन्दिनों के पाठ में अन्न शब्द होने से अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं ॥१३॥

ब्रह्म का लक्षण कह चुके, ब्रह्मविषयक वेदान्तवाक्यों का समन्वय भी होचुका। परन्तु अनेक वाक्यों में सृष्टि की उत्पत्ति अनेक प्रकारों और क्रमों से कही गई है, उस के विरोध का क्या परिहार है ? उत्तर—

१२०—कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

पदार्थः—(आकाशादिषु) आकाशादि अनेक भेदों से उपदिष्ट मार्गों में (कारणत्वेन) निमित्त कारण होने से (तु) तो (यथाव्यपदिष्टोक्तेः) जैसा एक स्थान में ब्रह्म का व्यपदेश है, वैसा ही सर्वत्र है, अतः [विरोध नहीं] ॥

कार्य जगत् को अनेक रीति से उत्पन्न करना कहा हो, परन्तु कर्त्ता तो सर्वत्र परमात्मा को ही कहा है, और एक ही प्रकार का परस्पराऽविरुद्धस्वरूप कहा है। अतएव विरोध नहीं ॥

शाङ्करभाष्य से यहां भी शङ्कराचार्य की विद्वत्ता और बहुज्ञता देखने योग्य है। वे लिखते हैं कि—

"ब्रह्म का लक्षण प्रतिपादित किया गया, और वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मविषयक सामान्यगतिक निरूपण किया गया और प्रधान को कारण मानने का पक्ष शब्दप्रमाणरहित है, यह भी कहा गया। उस में यह एक और शङ्का की जाती है कि— ब्रह्म को जगत् का कारण होना वा वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मविषयक समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि—विरुद्ध (विविध) गीत देखने से। प्रत्येक वेदान्तवाक्य में क्रमादि की विभिन्नता (विविधता) से और ही और सृष्टि पाई जाती है। जैसा कि कहीं "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" (तै० २। १) इस से सृष्टि के आदि में आकाश होना बताया जाता है। कहीं तेज आदि वाली (सृष्टि कही है)। "तत्तेजोऽसृजत" (छां० ६। २। ३)। कहीं प्राण आदि वाली (सृष्टि है) "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्" (प्र० ६। ४)। कहीं विना क्रम के ही लोकों की सृष्टि वर्णन की जाती है "स इमांल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापः" (ऐ० उ० । ४-१-२)। तथा कहीं असत्पूर्व वाली सृष्टि पढ़ी जाती है—"असद्वा इदमग्र आसीत्सदासीत्तत्समभवत्" (तै० २। ७)। कहीं असं-

द्वाद के निराकरण से तत्पूर्व वाली प्रक्रिया प्रतिज्ञात की जाती है—"तद्धै-क आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" यहां से आरम्भ करके "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१।२)। कहीं अपना कर्त्ता आप ही जगत् को प्रकट किया गया है कि "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते।" (बृह० १।४।७।
इस रीति से अनेक प्रकार की विरुद्धोक्ति से और ठीक बात (वस्तु) में विकल्प के सिद्ध न होने से वेदान्तवाक्यों का जगत् के कारण को निश्चय कर सकना न्यायानुकूल नहीं? स्मृति (मन्वादि, तथा शङ्कर के मतानुसार वेदान्तातिरिक्त सब दर्शन और भारतादि भी) और न्यायप्रसिद्धि से तो अन्य (ब्रह्म के अतिरिक्त) कारण का ग्रहण करने पर न्यायानुकूल है। इस सन्देह पर हम कहते हैं—प्रत्येक वेदान्तवाक्य में रचे जाने वाले आकाशादि पदार्थों में क्रमादि के द्वारा विविध गीत होने पर भी, रचने वाले (कर्त्ता) में कोई विविध वा विरुद्ध गीत नहीं है। क्योंकि (यथाव्यपदिष्टोक्तेः) जिस प्रकार का कि एक वेदान्तवाक्य में सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वात्मा एक अद्वितीय कारण बताया जाता है, इसी प्रकार का अन्य वेदान्तवाक्यों में कहा जाता है, जैसा कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१)॥"

इत्यादि बहुत शास्त्रार्थ लिखा है जो विस्तार के भय से हम नहीं लिखते। और इसी एक सूत्र पर नहीं, प्रायः इसी प्रकार का बहुत सूत्रों पर भाष्य है जिस से भाष्यकार की बहुदर्शिता और समाधान की प्रौढता आनन्द देती हैं॥

अब हम इस अंश पर छोटा सा समाधान देते हैं कि अनेक स्थलों में सच्छास्त्रों में अनेकधा सृष्टि कहीं, इस का कारण क्या है। उत्तर—उन वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य मुख्य करके यह था कि ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता बतावें और समझावें, यह तात्पर्य मुख्य नहीं था कि सृष्टि की उत्पत्ति का प्रकार पूर्णतया निरूपण करें। बस स्वेच्छानुसार चाहे जिस ईश्वर के रचे पदार्थ को लक्ष्य कर के समझाने लगे कि इस को जिस ने रचा वह ब्रह्म है। किन्तु कर्त्ता सब ने ब्रह्म को माना है, जो वेदान्त का मुख्य विषय है। लोक में देखिये—एक कहता है कि भाई! परमात्मा ने पृथिवी रची, उस से मनुष्य ने मकान बनाये। दूसरा कहता है कि परमात्मा ने वृक्ष रचे, उन से मनुष्य ने संदूक बनाये। तीसरा कहता है कि परमात्मा ने गौ के स्तनों में दूध रचा,

उस से मनुष्य ने दही, मावा, घी, मलाई, मक्खन आदि निकाले । इत्यादि अनेक गीत हैं, पर इतने अंश में सब का मुख्य तात्पर्य ईश्वर को जगत्कर्ता मानने में है और कार्यमात्र को मुख्यतः ईश्वरकर्तृक और गौणभाव से जैसे पृथिवी से विना बोये भी वृक्ष उगते हैं, स्वयम् उगते हैं, इत्यादि प्रकार से स्वयंकर्तृक कह देना भी उस समय तक वेदान्तसिद्धान्त का बाधक नहीं कहा जा सकता, जब तक किसी वेदान्तवाक्य में यह स्पष्ट न कहा हो कि ईश्वर ने सृष्टि नहीं रची, वह अपने आप हुई, प्रकृति स्वतन्त्र विना ईश्वर के अकेली सृष्टि को रचती है, इत्यादि । सो ऐसा वेदान्तवाक्यों में कहीं नहीं कहा, अतएव वेदान्त में वा अन्य दर्शनों में भी अथवा प्राचीन उपनिषदों में ईश्वर के जगत्कर्ता मानने में विगीति वा विवाद नहीं । ऐकमत्य ही है । इसी लिये इस सूत्र में व्यास जी कहते हैं कि आकाशादि अनेक आरम्भों में भी कारणत्व से एक ही प्रकार का (ब्रह्म) कहा गया है ॥१४॥

१२१-समाकर्षात् ॥ १५ ॥

पदार्थः-(समाकर्षात्) अनुवृत्ति करने=खींचने से ॥

जैसा कि तै० २ । ७ में "असद्वाइदमग्रआसीत्" कहा है कि यह (जगत्) पहिले असत्=अप्रतीयमान था । इस में यह नहीं कहा कि आत्मशून्य था, क्योंकि "असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः ।" इत्यादि प्रकार से असद्वाद का अपवाद करके सद्वाद कहा गया है । सब वाक्य का एकत्र समाकर्ष=अनुवृत्ति लगाकर अर्थ करने से विगीत नहीं रहता । शङ्कराचार्य जी भी कहते हैं कि असत् का अर्थ अभावात्मक नहीं किन्तु "नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्धः" अर्थात् नाम और रूप से प्रकट वस्तु के विषय में सत् शब्द प्रायः प्रसिद्ध है । जब जगत् नाम रूप से व्याकृत न था, तब प्रलयावस्था में इस को असत् कह सकते थे, तौ भी असत् का अर्थ शून्य वा "न कुछ" नहीं है । तब सत् और असत् दोनों प्रकार कह देने में अभिप्रायभेद के स्पष्ट करने पर अन्तर वा विरोध वा विगीत नहीं रहता ॥ १५ ॥

१२२-जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

पदार्थः-(जगद्वाचित्वात्) जगद्वाचक होने से ॥

"असद्वाइदमग्रआसीत्" इत्यादि वाक्यों में इदं शब्द जगद्वाची है, प्रत्य-

साक्षी नहीं, इस हेतु से भी कर्त्ता का असत् होगा कहा गया नहीं समझना चाहिये ॥ १६ ॥

१२३—जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ॥१७॥

पदार्थः—(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्) जीव और मुख्य प्राण की पहचान से (चेत्) यदि (न) निषेध करो (इति) सो (न) नहीं, क्योंकि (तत्) वह (व्याख्यातम्) सूत्र १ । १ । ३१ में कहा गया, वही यहां भी पढ़ कर समझो ॥ १७ ॥

१२४—अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्न-
व्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

पदार्थः—(तु) परन्तु (जैमिनिः) जैमिनि मुनि कहते हैं कि—(अन्यार्थम्) अन्यार्थ है क्योंकि (प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्) प्रश्न और उत्तर वाक्यों से । (अपि च) तथा च (एवम्) ऐसा (एके) कई अन्य आचार्य भी मानते हैं ॥

बालाकि के संवाद में कौ० ब्रा० ४ । १९ में प्रश्न है कि—"क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट" इत्यादि । अर्थात् यह जीव किस में (कहां) सोया है । फिर कौ० ब्रा० ४ । २० में उत्तर है कि—"यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति ॥" जब सोया हुआ किसी स्वप्न को नहीं देखता, तब उस प्राण में एक प्रकार का होजाता है ॥ इस के अनुसार जैमिनि भी मानते हैं कि प्रश्न और उत्तर से भेद सिद्ध होता है । क्योंकि प्रत्येक सोया हुआ जीव परमात्मा की गोद में सोता है । यहां प्रश्न और उत्तर में प्राण शब्द से परमात्मा का ग्रहण पाया जाता है । अन्य कई आचार्य भी जो वाजसनेयि शाखा वाले हैं, वे भी बृहदारण्यक २ । १ । १६ में प्रश्न और उत्तर से जीवात्मा परमात्मा का भेद मानते हैं । यथा—"यएषविज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्०" इत्यादि । यह जीवात्मा तदा=तब=जब कि अचेत सो जाता है, कहां होता है, उत्तर—" यएषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्शेते" यह जो भीतर हृदय में आकाश (परमात्मा) है, उस में सोता है । आकाश नाम परमात्मा का है, यह पूर्व छान्दोग्य ८ । १ । १ के प्रमाण से कह चुके हैं ॥ १८ ॥ तथा—

१२५—वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

पदार्थः-(वाक्यान्वयात्) वाक्य के अन्वय से । भी यही पाया जाता है कि पूर्वाऽपर वाक्यों में वैदिलक्ष्य भाव से परमात्मा ही जीवात्मा को ढूंढने जानने योग्य जगह २ बताया गया है ॥ १९ ॥

१२६—प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

पदार्थः-(आश्मरथ्यः) आश्मरथ्याचार्य (प्रतिज्ञासिद्धेः) प्रतिज्ञा की सिद्धि के (लिङ्गम्) चिन्ह को कहते हैं ॥

प्रतिज्ञा यह थी कि आत्मा के ज्ञान में सब का ज्ञान है, इस की सिद्धि भेदवाद में है, अभेद में नहीं । सब न हो, एक ईश्वर ही, हो तो ईश्वर के ज्ञान से 'सब' का ज्ञान क्यों कहा जाता ॥ २० ॥ तथा—

१२७—उत्क्रमिष्यतएवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

पदार्थः-(औडुलोमिः) औडुलोमि आचार्य कहते हैं कि (उत्क्रमिष्यतः) देह से निकल कर जाने वाले के (एवंभावात्) ऐसा होने से ॥

देह त्यागकर जाने को होता है तब आत्मा को परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा होती है, इस लिये जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है । ऐसा ही छान्दोग्य ८ । १२ । ३ में कहा है—"एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" अर्थात् यह आत्मा इस शरीर से उठकर परमात्मा के (उपसंपद्य) समीप जाकर अपने स्वरूप से (अभिनिष्पद्यते) संपन्न रहता है अर्थात् इस का स्वरूप मिट नहीं जाता है ॥ २१ ॥

१२८—अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

पदार्थः-(काशकृत्स्नः) काशकृत्स्नाचार्य (इति) ऐसा कहते हैं कि (अवस्थितेः) अवस्थित रहने से ॥

भेद पाया जाता है। क्योंकि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य०" छान्दोग्य ६ । ३ । २ में परमात्मा का इस जगत् में वा देहादि में प्रवेश पर अनुप्रवेश करके स्थित होना कहा है ॥ २२ ॥

अब विचार यह है कि ब्रह्म की जिज्ञासा के उत्तर में जन्माद्यस्य यतः १ । १ । २ इत्यादि से आरम्भ करके यहां तक जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय का निमित्त कारण जो वस्तु है, उस को ब्रह्म कहा गया, परन्तु साक्षात् शब्दों में 'निमित्त' कारण स्पष्ट नहीं किया । अब सन्देह यह है

कि निमित्त और उपादान दोनों कारण ब्रह्म ही क्यों न समझ लिये जावें, जब कि आरम्भ से अब तक कहे सूत्रों में स्पष्ट कथन नहीं है कि जगत् के जन्मादि का केवल 'निमित्त' कारण ब्रह्म है। उत्तर यह है कि—ईक्षतेर्नाशब्दम् इत्यादि सूत्रों में प्रधान वा प्रकृति की स्वतन्त्र-कारणता का निषेध कर आये हैं, ईक्षण=ज्ञानपूर्वक काम करना चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं, इस लिये ब्रह्म को केवल निमित्त ही कहा समझना चाहिये। २-लोक में देखते हैं कि कार्य जो बनते हैं, उन में १ कर्त्ता कुम्हार आदि होता है,दूसरा मिट्टी आदि उपादान होता है,इसीप्रकार जगत्कर्त्ता ब्रह्म से जगदुपादान प्रकृति भी दूसरी समझनी चाहिये। ३-कार्य जगत् को हम देखते हैं कि कहीं शुद्ध है, कहीं अशुद्ध,कहीं स्वच्छ है, कहीं मलिन, कहीं पुण्य है, कहीं पाप, कहीं सत्वगुण का कार्य है, कहीं रज वा तम का है, और ब्रह्म में स्वरूपगत सत्वादि गुणत्रय हैं नहीं, वह गुणातीत है, तब-"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वे० ६ । १९) इत्यादि श्रुतियों में कहा शुद्ध चेतन ब्रह्म, इस अशुद्ध मलिन अचेतन जगत् का उपादान कारण कैसे हो सकता है, "कारण गुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः" कारण के से गुण कार्य में हुवा करते हैं। इस लिये जगत् का उपादान तो गुणत्रयस्वरूपिणी प्रकृति को समझना चाहिये, और ब्रह्म को कारण कहने वाले सब सूत्रों, उपनिषद्वचनों और वेदवचनों का तात्पर्य निमित्त कारणवाद में ही समाप्त करना चाहिये॥

इसी बात को आगे ३ सूत्रों में स्पष्ट करते हैं। प्रथम यह कि प्रकृति भी जगत् का कारण है। यथा-

१२९-प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥ २३॥

पदार्थः-(प्रतिज्ञादृ—धात्) प्रतिज्ञा और दृष्टान्त में बाधा न आने से (प्रकृतिः) त्रिगुणात्मक प्रधान=प्रकृति (च) भी [जगत् के जन्मादि का कारण है]॥

न तो कोई ऐसी प्रतिज्ञा है कि उपादान कारण प्रकृति नहीं, न ऐसी प्रतिज्ञा स्पष्ट है कि अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म ही है, तथा कोई दृष्टान्त भी ऐसा नहीं कि जिस में दोनों प्रकार का कारण (निमित्त और उपादान) ब्रह्म ही दार्ष्टान्त में ठहर सके, इस हेतु से आचार्य कहते हैं कि प्रकृति भी जगत् का कारण है। केवल शुद्ध ब्रह्म इस अशुद्धियुक्त जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजुः ४० । ८ ॥

इत्यादि में जहां २ ब्रह्मस्वरूपनिरूपण की प्रतिज्ञा है, किसी भी प्रतिज्ञा से प्रकृति को उपादान कारण मानने में बाधा नहीं आती । तथा–

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते
चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूता-
न्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

[कठ ५ । ११]

इत्यादि प्रसंगों में जहां ब्रह्म को सूर्यादि का दृष्टान्त दिया है, वहां किसी दृष्टान्त की भी रुकावट नहीं होती, इस लिये प्रकृति भी जगत् का कारण है । केवल भेद यह है कि प्रकृति उपादान कारण है, ब्रह्म निमित्त कारण है ॥

अद्वैतवादी लोग शङ्कराचार्यादि के सहारे से इस सूत्र को इस प्रकार लगाते हैं कि (प्रकृतिश्च) प्रकृति=उपादान भी ब्रह्म ही है । परन्तु उपादान कारण तो परिणामी और कार्यरूप में परिणत हुवा करता है, ब्रह्म तो परिणामि नहीं, क्योंकि–

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

इत्यादि वेदान्तवाक्यों में उस का कोई कार्य नहीं जिस कार्य का वह ब्रह्म उपादान होवे । बस ब्रह्म का उपादान=प्रकृति होना निषिद्ध है । स्वामी शङ्कराचार्य ने जो पूर्वपक्ष में दोष दिखाया है कि–

"कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यं, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात् । ब्रह्म च नैवंलक्षणमवगम्यते० "

अर्थात् ब्रह्म को उपादान मानने में शङ्का यह है कि—"यह कार्य जगत् तो सावयव, अचेतन=जड़ और अशुद्ध दीखता है, इस का कारण भी ऐसा ही होना चाहिये । क्योंकि कार्य कारण की समानरूपता देखी जाती

है। किन्तु ब्रह्म तो (निरवयव अशुद्ध अचेतन=जड़) ऐसे लक्षणों वाला है नहीं ॥"

अब सारे भाष्य को आद्योपान्त पढ़ जाइये, शङ्करभाष्य में इस सूत्र पर कोई उत्तर पक्ष नहीं कि शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत्, चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् और निरवयव ब्रह्म से सावयव जगत् कैसे बन सकता है ?

हां शङ्कर भाष्य में ऐसी कई प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दिये हैं जिन से साधारणतया ब्रह्म के उपादान कारण समझ पड़ने की भ्रान्ति होवे। यथा—

१—उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति०

इत्यादि। शङ्कराचार्य के मत में द्वैतवाद पर यह प्रश्न है कि एक ब्रह्म को जानने से सब कुछ जाना जाता है, यह बात ब्रह्म को उपादान कारण मानने से ही बनती है, क्योंकि मिट्टी के जान लेने से घटादि का ज्ञान अन्तर्गत हो जाता है, परन्तु कुम्भार (निमित्त कारण) के जान लेने से तो घटादि विचित्र सृष्टिकार्य का ज्ञान नहीं हो सकता ? उत्तर-हम द्वैत वा त्रैतवादियों की ओर से यह है कि मिट्टी के जानने से भी ब्यौरेवार घटादि समस्त कार्यकलाप का ज्ञान तो नहीं होता, किन्तु कारण (मृत्तिका) मात्र का ही ज्ञान होता है और अद्वैतियों के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तब "सब" क्या रहा जो ब्रह्म के जानने से ज्ञात हो जाता है? हमारे मत में तो इस प्रकार के वाक्यों का यह अर्थ है कि निमित्त कारण ब्रह्म को जब इस प्रकार कोई जान लेवे कि विचित्र जगत् का वह कर्त्ता (निमित्त कारण) है, तब उस को जानने से उस के रचे जगत् का सामान्य ज्ञान अपने आप हो गया। विशेष ज्ञान (ब्यौरेवार) तो उपादानवादी अद्वैतवादियों को भी होता नहीं। कोई अद्वैतवादी ब्रह्मवादी भी विना जाने ग्राम नगर मुहल्ले आदि को भी बूझता ही फिरता है ॥

२—यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्—इत्यादि में मिट्टी और मृन्मय भाण्डादि का दृष्टान्त तो ब्रह्म को उपादान कारण ही जतलाता है?

उत्तर—नहीं, इस प्रकार के कथन मायासहित ब्रह्म के वर्णन करने वाले हैं, अर्थात् प्रकृति और जीव इस सब प्रजा सहित राजा के समान ब्रह्म को जतलाते हैं, केवल (शुद्ध) ब्रह्म की वहां विवक्षा नहीं और केवल ब्रह्म को

इन द्वैतवादी भी जगत् का कर्त्ता नहीं मानते, प्रकृतिसहित को ही मानते हैं। जैसा मनु ने भी कहा है कि—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ १ । ११ ॥

अर्थात् हम ब्रह्मा को जगत्कर्त्ता मानते हैं। नित्य, प्रतीत और अप्रतीतरूप, जो अव्यक्त (प्रधान=प्रकृति) जगत् का उपादान है, उस उपादान सहित पुरुष=परमात्मा का नाम ब्रह्मा है। ऐसा मानने से किसी भी वेदान्तादि वैदिकसिद्धान्तग्रन्थ के वाक्य से विरोध नहीं आता ॥

३–जन्माद्यस्य यतः। इस सूत्र में 'यतः' पञ्चमीविभक्ति का रूप है,और पाणिनि मुनि ने "जनिकर्त्तुः प्रकृतिः"। इस सूत्र से उपादानकारण में पञ्चमी कही है, तब ब्रह्म उपादान कारण क्यों नहीं ?

उत्तर–प्रथम तो यह नियम नहीं कि उपादान में ही पञ्चमी हो, हम देखते हैं कि आदित्याज्जायते वृष्टिः। इत्यादि वाक्यों में वृष्टि का निमित्त कारण आदित्य (सूर्य) भी पञ्चमीविभक्ति में है। दूसरा समाधान यह है कि—

" मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " इत्यादि वाक्यानुसार प्रकृति=माया सहित ब्रह्म की विवक्षा हो, तब यह दोष सर्वथा नहीं ॥२३॥

प्रश्न क्यों जी। पूर्व सूत्र का यही अर्थ क्यों न मान लें कि—उपादान (प्रकृति) भी ब्रह्म ही है ? उत्तर–नहीं,क्योंकि–

१३०—अभिध्योपदेशात् ॥ २४ ॥

पदार्थः–(अभिध्योपदेशात्) अभिध्यान के उपदेश से ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः॥ १। ८ इत्यादि मन्वादि के वचनों में अभिध्यान का वर्णन है,वह अभिध्यान चेतन का काम है,चेतन उपादान कारण का कोई अचेतन=जड़ कार्य नहीं हो सकता ॥ २४॥ तथा—

१३१—साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

पदार्थः–(साक्षात्) प्रत्यक्ष (च) भी (उभयाम्नानात्) दोनों=निमित्त और उपादान अलग २ शास्त्र में आम्नात होने से ॥ यथा—

१–द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं
परिषस्वजाते। ऋ० २। ३। १७

२–अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजोह्येकोजुषमाणोनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः ॥

३–आनीदवातं स्वधया तदेकम् । ऋ० १० । १२९ । २

इत्यादि वचनों में सुपर्ण और वृक्ष, अज और अजा, एक और स्वधा इत्यादि शब्दों से दोनों ब्रह्म और प्रकृति वा प्रकृति और पुरुष साक्षात् पृथक् २ बताये गये हैं। इस कारण एकले शुद्धचेतन ब्रह्म को उपादानकारण नहीं मान सकते ॥ २५ ॥ तथा–

१३२–आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

पदार्थः–(आत्मकृतेः) आत्मा के किये हुवे (परिणामात्) परिणाम से ॥
आत्मा परिणाम का कर्त्ता है, न कि कर्म भी । इस लिये प्रकृति उपादानकारण है, आत्मा नहीं ॥ २६ ॥

१३३–योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

पदार्थः–(च) और (योनिः) योनि (हि) ही (गीयते) कहा जाता है ॥
शास्त्रयोनित्वात् (वे० १ । १ । ३) में उस को व्यासदेव स्वयं शास्त्र की योनि (निमित्तकारण) कह चुके हैं, इस लिये परिणाम रहित होने से वह पुरुष=परमात्मा=जगद्योनि, भूतयोनि, शास्त्रयोनि, सब कुछ कह कर गाया गया है ॥ २७ ॥

१३४–एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

पदार्थः–(एतेन) इस से (सर्वे) सब वेदान्तवाक्यों का (व्याख्याताः) व्याख्यान संगतिपूर्वक हो गया समझो (व्याख्याताः) यह दुबारा पाठ अध्याय समाप्त्यर्थ है ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते वेदान्तदर्शनभाषानुवादे
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
समाप्तश्च प्रथमोऽध्यायः
॥ १ ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयोऽध्यायः

तत्र प्रथमः पादः

यहां तक ब्रह्म को जगत् का स्वतन्त्रकर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता और प्रकृति को ईश्वराधीन उपादानकारणता कही गई । अब अगले द्वितीयाध्याय में इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो २ आक्षेप हो सकते हैं, उन को पूर्व पक्ष में धर धर कर उत्तरपक्ष में परिहार करते हुवे सिद्धान्त की स्थापना करेंगे ॥

१३५—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्ना न्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (स्मृत्य-सङ्गः) स्मृति के अनवकाशरूप दोष का प्रसङ्ग है, तो (न) नहीं, क्योंकि (अन्यस्मृत्य-प्रसङ्गात्) अन्यस्मृतियों के अनवकाशरूपदोष का प्रसङ्ग होने से ॥

सूत्र के पूर्वार्धं में शङ्का, और उत्तरार्धं में समाधान है । शङ्का—यदि स्वतन्त्रकर्त्ता परमात्मा और ईश्वराधीन उपादानकारण प्रकृति, इन दोनों को पृथक् २ मानोगे तो स्मृति के विरुद्ध होगा, क्योंकि किसी २ स्मृति में ब्रह्म को ही अभिन्ननिमित्तोपादान एक कारण कहा है । जैसा कि—

*** १—तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ।**

अर्थात् परमात्मा से तीन गुणों वाला अव्यक्त (प्रकृति) उत्पन्न हुआ । अब इस से ब्रह्म ही अव्यक्त वा प्रधान वा प्रकृति का भी कारण होने से वही उपादान भी है ॥

*** २—अव्यक्तंपुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते ।**

अर्थात् अव्यक्त (प्रकृति) उस निर्गुण पुरुष में प्रलय को प्राप्त होती है । इस से भी पाया जाता है कि ब्रह्म ही उपादान और वही निमित्त है ॥

*** ३—अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः । स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥** पुराण में

* १ । २ । ३ वचन शङ्करभाष्य से लिये गये हैं, पता यहां भी नहीं दिया है ॥

अर्थात् संक्षेप को सुनो कि यह सब सनातन नारायण (ब्रह्म) है। वही सृष्टिकाल में सब को बनाता और वही प्रलयकाल में सब को खाता है। इससे भी पाया जाता है कि ब्रह्म से ही उत्पत्ति और उसी में लय होता है, अतएव वही एक निमित्त कारण और वही उपादान भी है। शङ्का यह हुई कि यदि ब्रह्म को निमित्त और प्रकृति को उपादान माना जावे तो इन स्मृति वा पुराणादि के वाक्यों को अवकाश कहां मिलेगा?

समाधान–सुनिये, यदि इन स्मृतियों को अनवकाशदोष का डर है तो अन्य स्मृतियों में जहां २ पुरुष को निमित्त और प्रकृति को तदधीन उपादान कहा है, उन स्मृतियों को भी तो अनवकाश दोष की प्राप्ति होगी, यदि अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ब्रह्म ही को मान लें। जैसा कि:–

१–यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यंसदऽसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥ मनु। १। ११॥

इस में अव्यक्त वा प्रधान (प्रकृति) को कारण कहा है और उस से पृथक् स्वतन्त्र पुरुष को ब्रह्मा कहा है॥

२–सोभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ मनुः। १। ८॥

अर्थ–उस परमात्मा ने अपने शरीर (प्रकृति) से अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा वाले ने आदि में अप्तत्त्वों को बनाया। इत्यादि॥

इस में भी शरीर (प्रकृति) से जगत् बनाना कहा है न कि अपने स्वरूप से। क्योंकि स्वरूप उस का अशरीर है। जैसा कि:–

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।

इत्यादि अनेक उपनिषदों।

सपर्यगाच्छुक्रमकायम्।

इत्यादि अनेक वेदवाक्यों में, और

दर्शन शास्त्रों के अनुसार परमात्मा अशरीर है, तथा इसी वेदान्त दर्शन के १। २। ३ सूत्र "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" इत्यादि में जीवात्मा को शरीरधारी भोक्ता माना है, परमात्मा को नहीं। अतएव मनु में कहा शरीर=प्रकृति का नाम है॥

३—गीता ८ । २० में अव्यक्त=प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न कहा है । यथा—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

अर्थात् उस अव्यक्त प्रकृति से अन्य सनातन अव्यक्त पुरुष है । प्रकृति वही नहीं है । तथा उसी गीता ८ । १८ में अव्यक्त प्रकृति से सब की उत्पत्ति कही है । यथा—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

अर्थात् दिन (कल्पारम्भ) के आगमन काल में अव्यक्त प्रकृति से सब व्यक्तियें उत्पन्न होती हैं ॥

इत्यादि अनेक ग्रन्थों में पुरुष और प्रकृति को भिन्न २ माना है, एक नहीं । तब इन स्मृत्यादि के वचनों से भी तो विरोध होगा और इन को अवकाश न रहेगा, यदि अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म मान लें । तात्पर्य यह है कि किसी न किसी स्मृति से विरोध वा किसी न किसी स्मृति को अनवकाश दोष का प्रसङ्ग तो दोनों मतों में समान है, तब वेदानुकूल गन्धादि में कहा प्रकृति और पुरुष का भेद ही मानना ठीक है, इस में अन्य दर्शनों से भी विरोध नहीं आता ॥

स्वामी शङ्कराचार्य ने अन्य कपिलादिमुनिप्रणीत सांख्यादि मत का भेदवाद के भय से खण्डन किया है । जिस से दर्शनों के परस्परविरोध की बात शङ्करमत में पक्की होती है । हमारे वैदिक मत में कोई भी वेदानुयायी दर्शन एक दूसरे से विरुद्ध सिद्धान्त नहीं करते । तथापि इस सूत्र पर भाष्य करते हुवे स्वामी शङ्कराचार्य ने कई बातें बड़ी स्वतन्त्रविचार की और आदरणीय लिखी हैं ॥ यथा—

१—यह कि वे जिस किसी भी स्मृति के डराने से डरते न थे । वे कहते हैं कि:—

भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम् । परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन् ॥

अर्थात् स्वतन्त्र बुद्धि वालों का यह आक्षेप नहीं (कि स्मृति को अनवकाश दोष पावेगा) होगा, किन्तु परतन्त्रबुद्धि मनुष्य प्रायः स्वतन्त्रता

से श्रुति का अर्थ निश्चित करने की शक्ति न रखते हुवे, प्रसिद्ध रचयिताओं की स्मृतियों पर लटकते रहेंगे। और

अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु ॥

अर्थात् हमारे किये हुवे व्याख्यान पर विश्वास न करेंगे क्योंकि स्मृतिकारों का मान बहुत है। इत्यादि अनेक प्रकार से स्मृतिकारों के विरुद्ध बोलना शङ्कराचार्य को निःशङ्क स्वीकृत था, तथा सांख्य योगादि का खण्डन भी वे स्पष्ट करते थे, जो यद्यपि अयुक्त था, परन्तु आज कल के पण्डित जो संस्कृत वाक्य से डर जाते हैं, चाहे किसी का बनाया हो, वैसे शङ्कराचार्य न थे, वे स्वतन्त्रप्रज्ञाभिमानी थे ॥

२—शङ्कराचार्य वेदविरुद्ध स्मृति को नहीं मानते। वे कहते हैं कि—

विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्त्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च, श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" (मीमांसादर्शने १ । ३ । ३)

अर्थात् स्मृतियों के परस्परविरुद्ध होने की दशा में किसी एक का मानना और दूसरी का त्यागना तो अवश्य करना ही होगा, तब जो श्रुति के अनुकूल हों उन को ही मानना चाहिये, अन्यों की अपेक्षा (परवाह) न करनी चाहिये। जैसा कि प्रमाण सूत्र (मीमांसाद० १ । ३ । ३) में कहा है कि वेद से "विरोध होने पर (स्मृत्यादि) की अपेक्षा (परवाह) न करनी चाहिये, हां विरोध न हो तो (वेदानुकूलता) का अनुमान करो" ॥

इत्यादि वर्णन से सामयिक स्वामी दयानन्द के समान स्वामी शङ्कराचार्य भी वेद के विरुद्ध स्मृति का परित्याग करते थे और साक्षात् रीति पर कई स्मृतिविषयों को तिरस्कृत करते थे ॥

३—शङ्कराचार्य मनु का अन्य स्मृतियों से अधिक प्रमाण मानते थे, इस कारण ही उन के इस सूत्रस्थ भाष्य में बलपूर्वक प्रमाण दिया है कि:—

भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—

यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद् भेषजम् (तै० २ । २ । १० । २) ॥

अर्थात् मनु के महत्पन की ख्याति करती हुई यह तैत्तिरीय की श्रुति (वचन) है कि जो कुछ मनु ने कहा वह औषध है ॥

किन्तु स्मरण रहे कि इस भाष्य में शङ्कराचार्य जी ने अभेदवाद की स्मृतियों को वेदानुकूल और भेदवाद की स्मृतियों को वेदविरुद्ध मान कर उलट पुलट किया है । वह वेदवचन जिस में अभेदवाद कहा समझ कर स्वामी शङ्कराचार्य तदनुकूल स्मृतियों को मान्य ठहराते हैं, यह हैं, जो शङ्कर भाष्य में लिखे हैं । यथा—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र कोमोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ईशो० ७

जिस अवसर में विज्ञानी पुरुष के, अन्य सब प्राणी आत्मा ही होगये, तब एकता को देखने वाले को क्या ? शोक क्या मोह ?

हमारे विचार में तो इस उपनिषद् में वा इसी के समपाठ यजुर्वेद में आत्मा की समानता का तात्पर्य एकता कहने का है कि जब कोई ज्ञानी पुरुष अन्य आत्माओं से अपने आत्मा को एक (अविरुद्ध) समझता है, तब उसको शोक मोह नहीं रहते ॥

दूसरा वचन मनु १२ । ९१ का स्वामी शङ्कराचार्य ने वेदानुकूल स्मृति मानकर अभेदवाद की पुष्टि में यह दिया है कि—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

अर्थात् सब प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सब प्राणियों को एक समान देखने वाला आत्मा का पुजारी स्वाराज्य (मुक्ति) को प्राप्त होजाता है । इस में भी यजुर्वेद वा ईशोपनिषद् के उक्तवचन का भाव स्पष्ट करने को "समं पश्यन्" शब्दों से समदर्शी होने से मुक्ति प्राप्ति कही है । भेदवादी अर्थात् निमित्त और उपादान को भिन्न स्वरूप मानने वालों के सिद्धान्त में ही वेदानकूलता है ॥

इस प्रसंग में सांख्यदर्शन को कपिलस्मृति कहकर स्वामी शङ्कराचार्य की संमति में सांख्यमत वेदविरुद्ध है, क्योंकि वह प्रकृति को उपादानकारण मानता है, परन्तु हम तो कपिल जी को व्यासजी का विरोधी होना नहीं स्वीकार करते । जिस प्रकार से हमने ऊपर सूत्र की व्याख्या की है, वही इस

दर्शनके आचार्य व्यास जी का भाव जान पड़ता है। तब न तो वेदविरोध रहता, न सांख्यकपिलमत से विरोध रहता, न स्मृति (मनु) से विरोध रहता। विरोध केवल शांकरमत से रहता है। अब पाठक विचार करें कि आर्ष ग्रन्थों को परस्परविरुद्ध और वेदविरुद्ध मानना सत्य है, वा अद्वैत के शङ्कराचार्याभिमत तात्पर्य को। हम तो यही कहते हैं कि भेदवाद सर्वआर्ष, वेदादि के अनुकूल होने से मान्य है। हां, शङ्कराचार्य के पाण्डित्य का गौरव अवश्य करने योग्य है, किन्तु कपिलादि मुनियों को वेदविरोधी ठहराना आदरणीय नहीं। शङ्करभाष्य में कपिल के मतका गौरव पूर्वपक्ष में स्थापन करने को एक उपनिषद्वचन लिखा है जो श्वेताश्वतर का वचन है। यथा—

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत् ॥ श्वे० ५। २

परन्तु अन्त में कपिलमत (सांख्य) की त्याज्यता रखने को कहते हैं कि-

या तु श्रुतिःकपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपिकापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कपिल मिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगर पुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्याऽसाधकत्वात् ॥

अर्थात् " जो श्रुति (ऋषिं प्रसूतं कपिलं०) कि कपिल के ज्ञान की अधिकता को दिखाने वाली (पूर्वपक्ष में) दिखलाई थी, उस से यह श्रद्धा नहीं की जासक्ती कि वेदविरुद्ध भी कपिलमत (सांख्य) माननीय है, क्यों कि (श्रुति में आया) कपिलम् पद श्रुतिसामान्यमात्र है अर्थात् विशेष कपिल मुनि=सांख्याचार्य का नाम नहीं) और एक अन्य कपिल भी थे, जो सगर के पुत्रों को सतापित करने वाले स्मृति में कहे हैं (अर्थात् क्या जाने श्रुति में कौन से कपिल का नाम आया है) । तथा अन्यार्थ (अन्य कपिल का बनाया) दर्शन जो मिलता नहीं, उसको साधकता नहीं ।। "

इस भाष्य में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । १—यह कि उपनिषद् को श्रुति मानने वाले शङ्कराचार्य को " परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् " मीमांसा दर्शन का सिद्धान्त भी अभिमत था कि श्रुति में आये कपिलादि शब्द व्यक्ति

विशेष के नाम नहीं । शङ्कराचार्य जी ने इस प्रमाण से काम लिया । २ यह कि शङ्कराचार्य के मत में श्रुतिविरुद्ध होने पर कपिल मुनि का मत चाहे क्यों न हो, और चाहे कपिल के ज्ञान की प्रतिष्ठा किसी श्रुति (यथार्थ में उपनिषद्) में भी क्यों न हो, तब भी वे वेदविरुद्ध मत के मानने को तैयार नहीं होते । वेद का इतना अधिक सम्मान शङ्कराचार्य के पश्चात् स्वानन्द-प्रद श्री १०८ स्वामी दयानन्द ने ही माना है ॥ १ ॥ तथा—

१२६—इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

पदार्थः—(च) और (इतरेषां) अन्यों के (अनुपलब्धेः) न पाये जाने से ॥

अर्थात् केवल किसी वेदविरुद्ध स्मृति को छोड़कर अन्यों के जगत्कारण का बोध पाया भी नहीं जाता । तब न तो वेदविरोध, न अन्य दर्शनों का विरोध पाया जावे, इस लिये प्रकृति उपादानकारण और पुरुष (ब्रह्म) निमित्तकारण इन दोनों की ही व्यवस्था कही सो ठीक है ॥ २ ॥

१२७—एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(एतेन) इस कथन से (योगः) योग का (प्रत्युक्तः) प्रतिवाद का खण्डन होगया ॥

योग शब्द का अर्थ स्वाभाविक संयोग है, अर्थात् परमाणुओं के अपने आप स्वभाव से योग=संयोग को कारण मानने का खण्डन होगया क्योंकि परमाणु वा प्रकृति कोई स्वयं स्वतन्त्रता से जगत् के उत्पादन में समर्थ नहीं, इस लिये अब तक जगत् के दो प्रकार के दो कारण बताये गये १-निमित्तकारण ब्रह्म, २ उपादानकारण प्रकृति (देखो सूत्र १ । ४ । २३), तब स्वाभाविक संयोग=योग को कारण मानने=जड़कारणवाद मात्र का खण्डन होगया ॥

शङ्कराचार्य जी ने पूर्व सूत्र में तो कपिलमत (सांख्य) को वेदविरुद्ध बताया और त्याज्य ठहराने का प्रयत्न किया, अब इस सूत्र में उन को योग शब्द मिल गया, जिस से योगशास्त्र योगस्मृति या योगदर्शन का खण्डन निकालते हैं, क्योंकि सांख्य और योग दोनों प्रकृति को पुरुषाधीन जगत्कारण मानते हैं, इस लिये शङ्कराचार्य जी नहीं मानते । हम शङ्करभाष्य से ही उद्धृत करके कई ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिन से योगदर्शन का मत वेदान्ता-अनुकूल सिद्ध होता है । यथा—

१—त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्० श्वेता० २ । ८

२–तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणम् (कठ २।६।११)

३–विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् (कठ २।६।१८)

४–तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्० श्वेता० ६।१३

इत्यादि वचन जो उपनिषदों के हैं और जिन को अद्वैतवादी श्रुति वा वेद कहकर पुकारा करते हैं, उन में बराबर सांख्य और योग का सम्मान है, तब उन को द्वैतसिद्धान्तप्रतिपादक पाते ही वेदविरुद्ध कहकर त्याज्य बताना उचित नहीं। किन्तु इस सूत्र के योग शब्द का यौगिक अर्थ लेना ठीक है, लाक्षणिक नहीं। क्योंकि लाक्षणिक लेवें तो योगदर्शन में "चित्तवृत्तिनिरोध" का नाम योग बताया है, तब बताओ कि यहां वेदान्तदर्शन में अब तक चित्तवृत्तिनिरोध का खण्डन नाम को भी कहां आया है? नहीं आया तब योगमत का खण्डन युक्त नहीं ॥ ३ ॥

१३८–न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

पदार्थः–(अस्य) इस के (विलक्षणत्वात्) विरुद्ध लक्षण होने से, (तथात्वं) वैसा होना (न) नहीं बनता (च) और (शब्दात्) शब्द प्रमाण से भी ॥

इस जगत् का वैसा होना अर्थात् ब्रह्म रूप होना वा ब्रह्मोपादानक होना नहीं बनता, क्योंकि न तो जगत् के लक्षण ब्रह्म के से हैं, ब्रह्म चेतन और जगत् का बड़ा भाग जड़, ब्रह्म शुद्ध, जगत् अशुद्धियुक्त, ब्रह्म मुक्त जगत् बद्ध, इत्यादि अनेक विलक्षणता हैं। और शब्द प्रमाण से ब्रह्म का कार्य रूप जगत् में परिणत होना प्रमाणित नहीं होता किन्तु–

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते। श्वेता०

इत्यादि वचनों से उस का कार्यरूप न बनना सिद्ध होता है ॥ ४ ॥ यदि कहो कि ब्रह्म कार्यरूप नहीं होता तो अभिमानी क्यों कहा गया है? "एकोऽहं बहु स्याम्" इत्यादि वचनों में तो पाया जाता है कि वह स्वयं जगत् रूप बहुरूप होने का अभिमानी है। इस का उत्तर यह है कि–

१३९–अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

पदार्थः–(अभिमानिव्यपदेशः) अभिमानी कहना (तु) तो (विशेषानुगतिभ्याम्) विशेष और अनुगति से है ॥

विशेष तो यह कि जगत् के निर्माणकाल से प्रलयकाल की विभिन्नता जतलाना। अनुगति यह कि एक ब्रह्म का बहुरूप जगत् के पदार्थों में अनुगत होना बताना। इन दोनों कारणों से अभिमानी कहना है ॥ ५ ॥ यदि कहो कि लोक में तो हम नहीं देखते कि इस प्रकार से कोई अपने को एक से बहुत बताता हो? तो उत्तर—

१४०—दृश्यते तु ॥ ६ ॥

पदार्थः—(दृश्यते) देखा जाता है (तु) तो ॥

ऐसा व्यवहार देखा तो जाता है कि एक समय एक मनुष्य एकेला बैठा हो, और सोचे कि हम बहुत हो जावें, तब अपने संगी साथियों को मेल मिलाप करके साथ करले, फिर देखे कि मैं अकेला नहीं हूं, अब हम बहुत हैं ॥ ६ ॥

१४१—असदिति चेन्न, प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (असत्) जगत् का उत्पत्ति से पूर्व असत्=अभाव था, सो (न) नहीं, क्योंकि (प्रतिषेधमात्रत्वात्) प्रतिषेधमात्र होने से ॥

अर्थात् असत् कहने वाले वचनों में जगत् के जगद्रूप बनने मात्र का निषेध है, यह तात्पर्य नहीं कि कुछ भी न था और अब कुछ हो गया, क्योंकि कुछ नहीं से, कुछ हो नहीं सकता ॥ ७ ॥

१४२—अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अपीतौ) प्रलय में (तद्वत्प्रसंगात्) वैसा प्रसंग होने से (असमञ्जसम्) गड़बड़ रही ॥

यदि मान भी लिया कि जगत् अशुद्धि आदि विलक्षणगुण होने से ब्रह्म को उपादान कारण न माना जावे, तो भी प्रलय में जब सारी अशुद्धियें प्रकृति में लीन होकर ब्रह्म में मिल जायँगी, तब वैसा ही दोष उस समय तो फिर उपस्थित रहेगा कि शुद्ध ब्रह्म में अशुद्ध जगत् कारण रूप से लीन होकर ब्रह्म को दूषित करेगा। जैसा कि हम लोगों को मलिन जल वायु आदि दूषित करते हैं? ॥ ८ ॥ उत्तर—

१४३—न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

पदार्थः-(तु) परन्तु (न) नहीं, क्योंकि (दृष्टान्तभावात्) दृष्टान्त होने से ॥

ऐसे दृष्टान्त अनेक हैं जिन में कार्य के दुर्गुण प्रलय में तो क्या स्थिति में भी निमित्त कारण को बाधा वा दूषित नहीं कर सकते। कुण्डलादि के दोष सुवर्णादि को दूषित करें, पर सुवर्णकार का दूषित होना आवश्यक नहीं। लोग बहुधा निर्दोष सुनार को दोष धरते हैं कि कुण्डलादि में खोटा-पन सुनार का खोट है, परन्तु विचारशील जान सकते हैं कि दोष सुवर्ण में उस का अपना होगा, सुनार ने तो प्रायः तपा कर दोष को दूर अवश्य कर दिया। अथवा मिट्टी रेतीली हो तो कुम्भादि के बनने वा फूटने से कुम्भार को दोष नहीं लग सकता। आटा खराब हो तो रसोइये में दोष नहीं घुस सकता। फिर केवल साक्षी मात्र अभोक्ता निर्लेप ब्रह्म को तो जगत् के दोष प्रलय में भी कैसे लग सकते हैं। यदि सूर्य के प्रकाश में दुर्गन्ध फैल जावे तो भी प्रकाश स्वयं दूषित नहीं हो सकता। जैसे व्यापक ब्रह्म से देशकृत दूरी तो अब स्थिति काल में भी किसी दुष्ट पदार्थ को नहीं, प्रलय का विचार तो फिर दूर रहा ॥ ९ ॥

१४४—स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

पदार्थः-(स्वपक्षदोषात्) प्रतिवादी के अपने मत वा पक्ष में दोष होने से (च) भी ॥

निमित्त कारण में तो कार्य के दोष नहीं लग सकते, किन्तु उपादान मानने के पक्ष में तो वह दोष कारण में लगता है। इस कारण भी निमित्त कारण ब्रह्म को मानने में प्रलयकाल का बताया कोई दोष नहीं आने से असमञ्जस=गड़बड़ कुछ नहीं ॥ १० ॥

१४५—तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ॥ ११ ॥

पदार्थः (तर्काऽप्रतिष्ठानात्) तर्क के द्वारा निश्चय की प्रतिष्ठा न होने से (चेत्) यदि कहो कि (अन्यथाऽनुमेयम्) विरुद्ध अनुमान मान लेना चाहिये, (एवम्, अपि) तब, भी (अविमोक्षप्रसंगः) छुटकारा न पावेगा ॥

क्योंकि तर्क को स्थिर न माना जाय तो यह भी तो एक तर्क ही है कि "तर्क की प्रतिष्ठा नहीं" जब यह भी तर्क है तो इतने से ब्रह्म को उपा-दान वा परिणामी कारण मानने वाले के मत पर जो दोष दिया गया, वह छूट नहीं सकता ॥

शङ्कराचार्य के भाष्य में तर्क की प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का विचार देखने योग्य है। यथा—

" इस कारण भी शास्त्र द्वारा जानने योग्य विषय में केवल तर्क से सामना न करना चाहिये। क्योंकि जो तर्क केवल मनुष्य की सूझ मात्र पर निर्भर और शास्त्र से विरुद्ध हैं वे अप्रतिष्ठित हैं। क्योंकि सूझ पर कोई अङ्कुश नहीं, निरङ्कुश है। जैसा कि किन्हीं चतुर वादियों के यत्न से सुझाये तर्क, अन्य अतिचतुर वादियों द्वारा झुठलाये जाते देखे जाते हैं और उन के भी सुझाये हुवे (तर्क), उन से अन्यों द्वारा झुठलाये जाते हैं। इस कारण तर्कों की प्रतिष्ठितता का सहारा नहीं लिया जा सकता, क्योंकि मनुष्यों की मति भिन्न होने से॥

यदि किसी प्रसिद्ध महात्मापन वाले कपिल का वा और किसी का माना हुवा तर्क प्रतिष्ठित समझ कर आसरा लिया जावे, तो भी अप्रतिष्ठितता ही है, क्योंकि प्रसिद्ध माहात्म्यों के माने हुवे तीर्थकरों और कपिल कणादादि (वैदिक तार्किकों) में भी परस्पर विरोध देखा जाता है। यदि कहा जावे कि हम अन्य प्रकार से अनुमान करेंगे, जिस से अप्रतिष्ठा दोष न दोष न होगा। यह नहीं कहा जा सक्ता कि (कोई भी) तर्क प्रतिष्ठित है ही नहीं। यह तर्कों की अप्रतिष्ठा भी तो तर्क से ही स्थापित की जाती है। किन्हीं तर्कों की अप्रतिष्ठा दिखलाने से, अन्य भी उस प्रकार के तर्कों की अप्रतिष्ठा कल्पना करने से, सारे तर्कों की अप्रतिष्ठा में तो लोक-व्यवहार का ही उच्छेद पावेगा॥

देखा जाता है कि लोग पिछले और वर्त्तमान मार्ग की समता से आने वाले मार्ग के सुख दुःखों की प्राप्ति और परिहार के लिये प्रवृत्त होते हैं। और वेद के अर्थ में विरोध हो तब मिथ्या अर्थ का निराकरण करके ठीक अर्थ का ठहराव भी वाक्य की वृत्तिनिरूपण रूप तर्क से ही किया जाता है और मनु भी ऐसा ही मानता है कि—

> प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
> त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ यह और—
> आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
> यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (१२।१०५–१०६)

ऐसा कहता है। तर्क का भूषण यही है कि जो वह अप्रतिष्ठित है। इस प्रकार कुत्सित तर्क के त्याग से अकुत्सित तर्क माननीय होता है। यह कोई प्रमाण नहीं है कि पूर्वज मूढ था तो अपने को भी मूढ होना चाहिये। इस लिये तर्क की अप्रतिष्ठा कोई दोष वा बुराई नहीं है॥ ॥ ११ ॥

१४६–एतेन शिष्टाऽपरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

पदार्थः–(एतेन) इस ११ वें सूत्रोक्त तर्क प्रकार से (शिष्टाऽपरिग्रहाः) शिष्ट पुरुषों से न माने हुवे पक्ष (अपि) भी (व्याख्याताः) व्याख्यात होगये॥

अर्थात् जिस प्रकार वेदविरुद्ध स्मृति का त्याग और वेदानुकूल स्मृति का मान्य करके वेदान्तसिद्धान्त में विरोध का परिहार किया, इसी प्रकार मनु आदि शिष्टों के अपरिग्रह=न माने हुवे अन्य पक्ष भी त्याज्य समझ कर वेदान्त का सिद्धान्त सब दोषों से रहित सिद्ध है॥ १२ ॥

१४७–भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

पदार्थः–(भोक्त्रापत्तेः) भोक्ता=जीवात्माओं को आपत्ति=रुकावट आने से (चेत्) यदि कहो कि (अविभागः) भोक्ता और भोग्य का पृथक् व्यवहार न बनेगा, ? तो उत्तर– (स्यात्) होजायगा, (लोकवत्) जैसे स्थितिकाल में होता है, तद्वत् ॥

यदि कहो कि प्रलय में सब प्राकृत पदार्थों का लय ब्रह्म में होजाने से भोक्ता=जीवात्माओं को भोक्तापने में आपत्ति होगी, वे किसके भोक्ता होंगे, क्यों कि भोग्य पदार्थों और भोक्ता का विभाग तो उस समय रहेगा नहीं, ? उत्तर यह है कि (स्यात्=हो) पड़ा हो, यह कोई दोष नहीं, भोग्य न रहने से समय विशेष में लोक=संसार में भी तो भोक्ता लोग भोक्ता नहीं रहते। इसी प्रकार प्रलय में भी (स्यात्) सही। इस को कोई दोष वा आपत्ति नहीं कहसक्ते ॥ १३ ॥

प्रश्न–अच्छा तो कार्य को कारण से अनन्यता (एकता) क्यों कही जाती है ? उत्तर–

१४८– तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

पदार्थः– (आरम्भणशब्दादिभ्यः) उपनिषदों में आरम्भणादि शब्दों से (तदनन्यत्वम्) उस=कार्य को कारण से अनन्यता=एकता कही गई है॥

अर्थात् उपादान कारण का कार्य से अनन्य मानने का हेतु उपनिषदों में आरम्भणादि शब्द हैं ॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्या-द्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ छां० ॥ ६ । १ । १ ॥

हे सोम्य ! जैसे एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से सब मृन्मय घट शरावे आदि की यथार्थता समझ में आजाती है, क्योंकि वाणी से कहना, विकार, नाम रखना है, बस सत्य (असल) तो मिट्टी ही है ॥

मिट्टी का बना घड़ा सदा मिट्टी ही है, सुवर्ण नहीं । सुवर्ण के कुण्डल सुवर्ण ही हैं, लोहा नहीं । इस प्रकार प्रकृति से बने लोक लोकान्तर सब जड़ रूप प्रकृति ही हैं, चेतन आत्मा नहीं होगये ॥

इसी से कार्य कारण (उपादान) की अनन्यता (एकता) है ॥ १४ ॥ तथा इस से भी कार्य कारण की अनन्यता है कि–

१४९– भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

पदार्थः– (च) और (भावे) कारण के होने पर ही (उपलब्धेः) कार्य की उपलब्धि होने से ॥

अर्थात् कारण के होने पर ही कार्य होता है, इससे भी उपादानकारण से कार्य का अनन्यत्व=अभिन्नता कही जाती है ॥ १५ ॥ तथा–

१५०–सत्त्वाच्चाऽवरस्य ॥ १६ ॥

पदार्थः–(अवरस्य) इस उरले कार्यरूप जगत् के (सत्त्वात्) सत्रूप होने से (च) भी ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । छां० ६ । २ । १ इत्यादि में इदं शब्दवाच्य जगत् को उत्पत्ति से पूर्व सत्रूप कहा है । इस से भी उपादानकारण और कार्य जगत् में अनन्यता कही जाती है ॥ १६ ॥

१५१–असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् १७

पदार्थः–(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (असद्व्यपदेशात्) असत् कथन से (न) अनन्यता नहीं पाई जाती, सो (न) नहीं क्योंकि (धर्मान्तरेण) अन्यधर्म से (वाक्यशेषात्) वाक्य के शेष से ॥

छान्दोग्य में ३।१९ पर यह भी कहा है कि "असदेवेदमग्र आसीत्।" इस असत् कथन से तो अनन्यता का निषेध पाया जाता है। इस पूर्वपक्ष का उत्तर सूत्र के उत्तरार्ध में यह दिया है कि असत् कथन धर्मान्तर से है अर्थात् इदं। कार्य को ही अव्याकृत नामरूप होने से असत्रूप कहा गया है, क्योंकि वाक्य के शेष भाग में छान्दोग्य में "तत्सदासीत्" कहा है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि सदसद्वाच्य कार्य जगत् को ही अव्याकृत=अप्रकट नाम रूप वाली प्रलय अवस्था में असत्=अप्रकट कहा है। इस से उपादानकारण की कार्य से अभिन्नता में कोई शङ्का नहीं रही ॥ १७ ॥ तथा—

१५२—युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

पदार्थः—(युक्तेः) युक्ति से (च) और (शब्दान्तरात्) अन्य शब्दप्रमाण से॥

भी उपादानकारण और कार्य की अनन्यता सिद्ध है। युक्ति यह है कि दधिकार्य के लिये दुग्धकारण, घटकार्य को मिट्टीकारण, कुण्डलादि भूषणकार्य को सुवर्ण कारण नियत रूप से आवश्यक हैं, यह नहीं कि किसी भी कारण से कोई सा ही कार्य बन जावे। तब कार्य की कारण में निश्चितसत्ता पाई जाती है, इस लिये कार्य कारण में अनन्यता सिद्ध होती है। तथा युक्ति के अतिरिक्त अन्य शब्द प्रमाण भी हैं जिन से यही बात सिद्ध होती है। जैसा कि "कथमसतः सज्जायेत" असत् से सत् कैसे हो सकता है, यह आक्षेप कर के आगे कहा है कि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" यह अग्रे=उत्पत्ति के पूर्व सत्=वर्त्तमान ही था॥

युक्ति की पुष्टि में शंकर भाष्य देखने योग्य है। वे कहते हैं कि " यदि उत्पत्ति से पूर्व सर्वत्र सब का अभाव होता तो, क्यों दूध से ही दही बनता है, मिट्टी से क्यों नहीं,? मिट्टी से ही घड़ा बनता है, दूध से क्यों नहीं, और प्रागभाव समान होने पर भी दूध में ही कोई दही की अतिशयता है, मिट्टी में नहीं। मिट्टी में ही घड़े की विशेषता है, दूध में नहीं। यदि ऐसा कहा जावे तो प्रागवस्था के अतिशय वाली होने से असत्कार्यवाद की हानि हुई और सत्कार्यवाद की सिद्धि। और कारण की शक्ति तो कार्य के नियमार्थ कल्पना की जासक्ती है, अन्य नहीं, और शक्ति असती=अभावरूप थी तो कार्य का भी नियम न करती। क्यों कि असत् पने में समान होने और अन्यत्व में भी समान होने से ,, इत्यादि ॥ १८ ॥

१५३—पटवच्च ॥ १९ ॥

पदार्थः—(पटवत्) वस्त्र के समान (च) भी ॥

जैसे वस्त्र प्रथम तह किया हुवा वा लिपटा हुआ हो और फिर तह खोल कर फैलाया जावे, तो जो लंबाई चौड़ाई प्रथम मुकड़ी अवस्था में दीख नहीं पड़ती है वह खोलने पर स्पष्ट होती है और यह भी ज्ञात होता है कि तह किये वस्त्र में यह लम्बाई चौड़ाई स्पष्ट न थी, परन्तु थी अवश्य । इसी प्रकार कार्य की उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य अपने कारण के आकार व रूप में वर्तमान था, परन्तु कार्य रूप में परिणत होकर स्पष्ट हुवा । इस प्रकार भी उपादान कारण और कार्य की अनन्यता (एकता) सिद्ध है ॥ १९ ॥

१५४—यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

पदार्थः—(च) और (यथा) जैसे (प्राणादि प्राणादि वायु हैं ॥

जीवन के हेतु वायु का नाम प्राण है । उसी प्राणके प्राण अपान उदान समान व्यान, नाग कूर्म ककलादि कार्य भी कारण प्राण से अन्य नहीं । इस दृष्टान्त से भी कारण (उपादान) से कार्य की अनन्यता सिद्ध है ॥ २० ॥

शङ्का—

१५५—इतरव्यपदेशाद्धिताऽकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(इतरव्यपदेशात्) उपादान कारण से इतर=ब्रह्म को जगज्जन्मादिकर्त्ता होने का व्यपदेश=कथन होने से (हिताऽकरणादिदोषप्रसक्तिः) अहितकरणादिदोष पाया जाता है ॥

अर्थात् कार्य जगत् और उपादान=प्रकृति की अनन्यता रहो, परन्तु " जन्माद्यस्य यतः " इत्यादि सूत्रों में जब तक परमात्मा को जगत्कर्त्तादि बताया गया है, तदनुसार यह दोष आता है कि परमात्मा ने जगत् को बनाकर हित (फ़ायदा) नहीं किया, अहित=हानि ही की, इत्यादि दोष आते हैं ॥ २१ ॥

समाधान—

१५६- अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

पदार्थः—(तु) परन्तु (भेदनिर्देशात्) भेदकथन से (अधिकम्) परमात्मतत्त्व अधिक है ॥

शङ्करभाष्यभाषार्थः–"जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, ब्रह्म है, वह इस (हिताऽहितादि के भागी) देहधारी जीवात्मा से अधिक महान् है, हम उस को जगत् का स्रष्टा बताते हैं, उसमें हित न करना आदि दोष नहीं लगते हैं, क्योंकि उस को कुछ हित कर्त्तव्य वा अहित कुछ हटाने को नहीं है। यतः वह नित्यमुक्तस्वभाव है । और उस से ज्ञान का वा शक्ति का प्रतिबन्ध=रुकावट कहीं नहीं है, यतः वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। किन्तु जीवात्मा इस प्रकार (सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्) नहीं है, उस में हिता ऽकरणादि दोष लग सकते हैं, परन्तु हम उस (जीवात्मा) को जगत्स्रष्टा नहीं बताते हैं। क्योंकि भेद कथन से:–

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥

बृह०२।४।५ सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः॥ छां० ८। ७। १

सता सोम्य तदा संपन्नो भवति॥ छां० ६। ८। १

शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना न्वारूढः॥ बृह० ४। ३। ३५

इस प्रकार का कर्त्ता कर्म आदि का भेद निर्देश ब्रह्म को जीव से अधिक (पृथक् भिन्न बड़ा) दर्शाता है" ॥

बस जीव ब्रह्म के भेद कहने से हिताऽकरणादि दोष इस लिये नहीं आते कि हिताऽहित की बातें जीवों को होती हैं, ब्रह्म को नहीं। ब्रह्म तो निर्लेप है ॥ २२ ॥

१५७–अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

पदार्थः–(अश्मादिवत्) पाषाणादि के समान (च) भी (तदनुपपत्तिः) ब्रह्म से जीव बन जाने की सिद्धि नहीं हो सक्ती ॥

जैसे भूमि से पाषाण वृक्ष वनस्पत्यादि उत्पन्न होजाते हैं, वैसे ब्रह्म जो निर्विकार है, उस से कोई विकार नहीं उत्पन्न होसक्ता।

विकार के बिना जीव नहीं बनसक्ता। कुछ से कुछ बनना अवश्य विकार होता है। बस सर्वज्ञ से अल्पज्ञ, अभोगी साक्षिमात्र से भोक्ता जीव नहीं बन सक्ता ॥ २३ ॥

१५८–उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

पदार्थः–(उपसंहारदर्शनात्) उपसंहार के देखने से (चेत्) यदि

कहो कि (न) ब्रह्म जगत् को नहीं बनासका, सो (न) नहीं (हि) क्योंकि (क्षीरवत्) दूध के समान ॥

यदि कहो कि जैसे कुम्हार आदि कर्त्ता लोग दण्डचक्रादि साधनों से घटादि कार्य्यों को बनाते हैं, यह देखा जाता है, इस प्रकार ब्रह्म के पास कोई दण्डचक्रादि साधनों का उपसंहार=सामग्री संचय न था, तब वह जगत् को नहीं बनासक्ता। इस का उत्तर यह है कि जैसे दूध में गरमी व्यापक होकर दूध का दही बना देती है, कोई साधन अपेक्षित नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म भी इस अनादि प्रकृति में व्यापक होने मात्र से जगत् को उत्पन्न स्थित और प्रलीन करसक्ता है। हस्तपादादि वा दण्ड चक्रादि साधन अपेक्षित नहीं होते ॥ २४ ॥ और—

१५९—देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

पदार्थः—(लोके) संसार में (देवादिवत्) सूर्य चन्द्रादि देवों के समान (अपि) भी ॥

जैसे लोक में सूर्य अनेक ओषधि आदि को सुखाता है, उगाता है, मेघ को बनाता और वर्षाता है। चन्द्रमा समुद्र के जल को ऊपर उठाता है, उन सूर्य चन्द्रादि देवों के पास कोई (मेशीन) चक्रादि नहीं हैं, केवल अपनी स्वाभाविक सत्तामात्र से इन सब कार्यों को कर लेते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी सत्तामात्र से प्रकृति में व्यापक होता हुआ जगत् के जन्मादि में निमित्त कारण है ॥ २५ ॥

१६०—कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा ॥ २६ ॥

पदार्थः—(कृत्स्नप्रसक्तिः) सम्पूर्ण का प्रसंग (वा) अथवा (निरवयवत्वशब्दकोपः) निरवयवत्व शब्द का विरोध होगा ॥

प्रश्न—यदि व्यापक होकर विना साधनों के भी ब्रह्म को जगत्कर्ता धर्त्ता हर्त्ता और उपादान भी मानलें तब समस्त ब्रह्म को परिणामीपना आया अथवा यदि ब्रह्म के एक देश में सृष्टि स्थिति प्रलय रूप परिणाम मानें तो ब्रह्म निरवयव न रहेगा। क्योंकि उस के किसी अवयव में सृष्टि और दूसरे अवयवों में उस का अभाव होगा ॥ २६ ॥

१६१—श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

पदार्थः—(तु) परन्तु (श्रुतेः) श्रुति से और (शब्दमूलत्वात्) शब्दमूलक होने से ॥

इस सूत्र में उत्तर यह है कि १-न तो ब्रह्म परिणामी होता क्योंकि श्रुति उस को अपरिणामी कहती है, और न सावयव है, क्योंकि शब्दप्रमाण से निरवयवत्व सिद्ध है, इस लिये उस को उपादान न मानकर निमित्तकारण मानने में कोई दोष नहीं रहता ॥ २८ ॥

१६२-आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

पदार्थः-(आत्मनि) परमात्मा में (च) तो (एवं) इस प्रकार की (विचित्राः) विचित्र शक्तियें (च) भी (हि) निश्चय करके हैं ॥

आत्मा=व्यापक निमित्त कारण परमात्मा में तो ये विचित्र शक्तियें मानी जा सकती हैं कि न तो कृत्स्नप्रसक्ति दोष हो, न सावयवता आवे, और सृष्टि भी प्रकृति से बना लेवे ॥ २८ ॥

१६३-स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

पदार्थः-(स्वपक्षदोषात्) अपने पक्ष में दोष से (च) भी ॥

ब्रह्म को उपादान कारण मानने वाले लोगों के अपने मत में यह दोष अवश्य रहेगा कि या तो कृत्स्नप्रसक्ति=समस्त ब्रह्म को जगद्रूपता का परिणाम प्राप्त होकर ब्रह्म न रहना । जैसे सारी मिट्टी के घड़े बन जावें तो मिट्टी कहीं न रहे । अथवा थोड़े से ब्रह्म से जगत् बने और शेष शुद्ध बचा रहे तो निरवयव न रहेगा । इस स्वपक्षदोष के न हटासकने से भी ब्रह्म को निमित्त और प्रकृति को उपादान कारण मानना ही निर्दोष सिद्धान्त वेदान्त का है ॥ २९ ॥

१६४-सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पदार्थः-(सर्वोपेता) सब गुणों से युक्त (च) भी (तद्दर्शनात्) उस के देखने से है ॥

उपनिषद् में देखा जाता है कि ब्रह्म में सर्वेन्द्रियरहितता और सर्वेन्द्रियगुणाभासता ये दोनों विचित्र शक्तियें हैं । यथा-सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥ ३० ॥

१६५-विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

पदार्थः-(विकरणत्वात्) इन्द्रियरहित होने से (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (न) ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण=कर्त्ता नहीं होसकता,

(तद्) इस विषय को (उक्तम्) कहचुके हैं ॥

यह बात उपनिषद् में कही जा चुकी है कि परमात्मा हस्तपादादि करणों=इन्द्रियों के विना भी जगत् करने में समर्थ है । यथा—"अपाणिपादोजवनोग्रहीता"० इत्यादि श्वे॰ ३।१९ तथा पूर्व श्लोक्त "सर्वेन्द्रिय गुणाभासम्"० इत्यादि में भी कहागया है कि वह विना आंख देखता, विना कान सुनता, विना हाथ पकड़ता है इत्यादि ॥ ३१ ॥

१६६—न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(प्रयोजनवत्त्वात्) प्रत्येक प्रवृत्ति के सप्रयोजन होने से (न) परमात्मा जगत्कर्त्ता नहीं ॥

यह पूर्वपक्ष है कि—प्रयोजन के विना कोई किसी छोटे से काम को भी नहीं करता और परमात्मा पूर्णकाम तृप्त है, उसका कोई स्वार्थ प्रयोजन नहीं कि सृष्टिरचना का महापरिश्रम उठावे । इस कारण परमात्मा ने यह जगत् नहीं बनाया ॥ ३२ ॥

उत्तर—

१६७—लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(लीलाकैवल्यम्) केवललीलामात्रता (तु) तो (लोकवत्) लोक के तुल्य जानो ॥

जैसा लोक में लीला=खेल कूद करने वालों को कोई परिश्रम नहीं जान पड़ता, क्योंकि अपनी खुशी से स्वतन्त्रता से लीला करते हैं, न तो किसी की आज्ञा के दबाव से, न कोई भारी प्रयोजन होता है । इसी प्रकार परमात्मा की लीला=यह जगद्रचना है । उस की सत्तामात्र से स्वभाव से सृष्टि उत्पन्न होजाती है, उस सर्वशक्तिमान् अनन्तविक्रम विष्णुभगवान् को इस के रचने में कोई श्रम=थकान नहीं होता । जैसे लोक में खुशी से लीला करने वालों को श्रम नहीं पड़ता । थोड़ा बहुत जो लीला का प्रयोजन होता भी माना जाय, सो परमात्मा का भी स्वार्थ प्रयोजन नहीं, परन्तु जीवों को उन के पूर्व सृष्टि के शुभाशुभ कर्मफल भोगवाना एवं अपने महत्त्व के सामने बहुत तुच्छ सा काम और थोड़ा सा प्रयोजन है, जो पूर्णकामता में इस लिये बाधक नहीं कि परार्थ है, स्वार्थ नहीं ॥

परमात्मा पूर्णकाम अवश्य है, परन्तु स्वाभाविक दयालु और न्याय-

कारी भी है, बस वह स्वाभाविक दयालुता से और सर्वशक्तिमत्ता से लीला मात्र से जगत् के उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता है ॥ ३३ ॥

१६८-वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पदार्थः-(वैषम्यनैर्घृण्ये) विषमता=पक्षपात और निर्घृणता=निर्दयता (न) नहीं होती, क्योंकि (सापेक्षत्वात्) अपेक्षासहित होने से । (तथ हि) ऐसा ही (दर्शयति) शास्त्र दर्शाता है ॥

इस सूत्र में प्रथम दो दोष उठा कर उन का उत्तर दिया गया है । १-यह कि परमात्मा ने किसी को मनुष्यादि उत्तम योनि में,किसी को पशु आदि नीचयोनि में क्यों उत्पन्न किया, उस में पक्षपात का दोष आता है २-यह कि महादुःख नरक की यातना भुगाने वाला परमात्मा निर्दय ठहरता है । इन दोषों का उत्तर यह है कि परमात्मा अकारण उत्तमाऽधम योनि नहीं देता, किन्तु जीवों के कर्मानुसार योनिभेद और फलभेद करके को सुख दुःखादि को भोगवाता है,अतएव निर्दय वा पक्षपाती नहीं ठहरता। ऐसा ही शास्त्र दर्शाता है कि-"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन" बृह० ३ । २ । १३ पुण्य का फल पुण्य और पाप का फल पाप मिलकर वैसी २ योनि और फल होते हैं । परमात्मा का काम तो मेघ के समान है । जैसे मेघ वर्षा करता है, वर्षा में भेद भाव नहीं, परन्तु गेहूं. जौ, चना, मटर आदि खेती अपने २ बीजानुसार भिन्न २ प्रकार की उपजती है, इसी प्रकार परमात्मा तो सृष्टि को साधारणता से उपजाता है, विशेष भेद युक्त प्रजोत्पत्ति का कारण उन जीवों के कर्म बीज हैं ॥ ३४ ॥

१६९- न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (कर्माऽविभागात्) कर्म जुदे २ न होने से (न) फल भी भिन्न २ नहीं दिये जा सकें, सो (न) नहीं, क्योंकि (अनादित्वात्) कर्मों के अनादि होने से ॥

कर्म अनादि हैं, इस सृष्टि के भेद का कारण पहिली सृष्टि के कर्म हैं, इसी प्रकार उसका कारण उस से पहिली सृष्टि के कर्म हैं । यह प्रवाह अनादि है, इस कारण यह दोष बताना ठीक नहीं कि सर्गारम्भ में कर्मों का विभाग न था ॥ ३५ ॥

१७०-उपपद्यते चाऽप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

पदार्थः-(उपपद्यते) सिद्ध (च) भी होता है (च) और (उपलभ्यते) पाया भी जाता है ॥ कर्मों की अनादिता युक्ति से भी सिद्ध है और अनुभव भी की जाती है । उपपत्ति तो यह है कि कारण के सद्भावबिना कार्य का सद्भाव नहीं होसक्ता । उपलब्धि यह है कि प्रत्येक जीव को कर्म करते पायेजाता है और जीव अनादि हैं, तब कर्म भी अनादि पायेगये ॥ ३६ ॥

१७१-सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

पदार्थः-(सर्वधर्मोपपत्तेः) सबों के धर्म=शुभाऽशुभकर्म सिद्ध होने से (च) भी ॥

शुभाशुभ कर्म=करने का सामर्थ्य धर्म सभी में होता है, किसी एक में नहीं । अतएव अनादिता सिद्ध है और सब अनादि हैं । अथवा कर्त्ता में जितने धर्म होने चाहियें वे सब परमात्मा में उपपन्न होते हैं, इस लिये भी जीवों के कर्म अनादि मानने चाहियें । तब उस में न पक्षपात=विषमता न निर्दयता, न अज्ञान, न विकार, कोई दोष नहीं आता ॥ ३७ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामि कृते-वेदान्तदर्शनभाषानुवादे द्वितीयाऽध्यायस्य प्रथमः पादः

॥ १ ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयः पादः

पूर्वपाद में अचेतनप्रकृति को स्वतन्त्रकर्त्ता न होने के प्रमाण देकर उपनिषदादि द्वारा सिद्ध किया गया कि बिना निमित्तकारण परमात्मा के केवल स्वतन्त्रप्रकृति अचेतन ने जगत् नहीं बनाया। आगे कुछ युक्तियों से भी सिद्ध करेंगे कि केवल स्वयं प्रकृति ही जगत् की सयौक्तिक सप्रयोजन विचित्र रचना नहीं करसक्ती। इस अभिप्राय से अगला द्वितीयपाद आरम्भ किया जाता है। यद्यपि वेदान्तशास्त्र युक्तियों के ही आधार पर ब्रह्म की जिज्ञासा पूरी करने को प्रवृत्त नहीं हुआ। किन्तु वेदान्तवाक्यों के आधार से उस विषय का प्रतिपादन करने को प्रवृत्त है। किन्तु जितने ही धुरन्धरतार्किक लोग इस पर आपत्ति करते हैं कि ब्रह्म के बिना ही स्वयं प्रकृति से जगत् बन सक्ता है तब निमित्तकारण चेतन ब्रह्म को मानने की क्या आवश्यकता है। इस कारण उन के तर्कों का निराकरण भी आवश्यक जान कर व्यास जी इस पाद में युक्ति वा तर्क द्वारा भी चेतन निमित्त कारण परमात्मा की आवश्यकता बताते हुवे अचेतन कारण वादी नास्तिकों के तर्कों की पड़ताल करते हैं॥

१७२–रचनानुपपत्तेश्चानानुमानम् ॥ १ ॥

पदार्थः–(रचनाऽनुपपत्तेः) वर्त्तमान सृष्टि की सयौक्तिक रचना के असिद्ध होने से (च) भी (अनुमानं) अनुमान (न) नहीं कर सकते कि अपने आप प्रकृति से ही जगत् बनगया होगा॥

जगत् की रचना में कोई अन्धेरखाता नहीं पाया जाता किन्तु चतुराई से लोक लोकान्तरों के परस्पर संबन्ध, काल और स्थान नियत गति रक्खी गई है। मनुष्यादि प्राणियों के देहादि की अद्भुत रचना बताती है कि इस का कर्त्ता कोई चतुर शिरोमणि चेतन ही इस का कर्त्ता है॥

(च) शब्द इस कारण कहा है कि इस से पूर्व १–ईक्षतेर्नाऽशब्दम् १। १। ५ तथा २–कामाच्चनानुमानापेक्षा १। १। १८ और ३–एतेन सर्वेव्याख्याताः १। ४। २८ इत्यादि सूत्रों से यद्यपि पूर्व भी स्वतन्त्रप्रकृति की जगत्कर्त्ता

मानने का पक्ष खण्डन करचुके हैं, परन्तु यह तो शब्द प्रमाण से किया था, अब कहते हैं कि तर्क से (भी) यही बात पुष्ट होती है ॥

१७३—प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

पदार्थः-(प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति से (च) भी ॥

अप्रवृत्त जड़ प्रकृति कभी स्वयं प्रवृत्त भी नहीं हो सक्ती ॥ २ ॥

यदि कहो कि प्रवृत्तियें जड़ पदार्थों में भी देखी जाती हैं, फिर जब प्रकृति ही में प्रवृत्ति मान कर उसी को जगत्कर्त्ता क्यों न मान लें, तो उत्तर—

१७४—पयोम्बुनोश्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि कहो कि (पयोम्बुनोः) दुग्ध और जलकी प्रवृत्ति के समान प्रकृति की प्रवृत्ति से जगत् बन गया तो (तत्र) उस में (अपि) भी ॥

जिस प्रकार जड़ दुग्ध भी स्वभाव से ही बछड़े के पालन में प्रवृत्त होजाता है, अथवा जैसे जड़ जल भी स्वभाव से ही बहता और लोकोपकार करता है, इसी प्रकार जड़ प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृति से ही जगत् बन सकता है, परमात्मा की क्या आवश्यकता है, तो उत्तर यह है कि उन दुग्ध और जलों में भी चेतन का सहारा आवश्यक है, क्यों कि चेतन के सहारे बिना रथादि अपने आप नहीं चलते, घड़ी यन्त्रादि वा रेल आदि भी नियमपूर्वक चलाने वाले के यत्न बिना नियमपूर्वक नहीं चलते, तथा दुग्ध भी गौ के स्नेहकर्तृक प्रवृत्ति तथा बछड़े की चूंमने रूप प्रवृत्ति के बिना, और जल भी पीने वाले की इच्छापूर्वक प्रवृत्ति के बिना किसी का कुछ उपकार नहीं करता और उपनिषद् के लेखानुसार चेतन परमात्मा के नियम चक्र में चलकर बहता है, यथा—

योऽप्सु तिष्ठन् योऽपोन्तरोयमयति ॥ बृह० ३। ७। ४

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि

प्राच्योनद्यःस्यन्दन्ते ॥ बृह० ३। ८। ९

इत्यादि प्रमाणों से जलों का नियमपूर्वक प्रवाह चलाने वाला परमात्मा ही है, इसी प्रकार जड़ प्रकृति से नियमानुकूल प्रवृत्ति कराकर जगत् रचाने वाला परमात्मा ही हो सकता है, जो चेतन है ॥ ३ ॥

१७५—व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

पदार्थः-(व्यतिरेकानवस्थितेः) प्रकृति से व्यतिरेक=पृथक् भाव के अव-स्थित न होने से (च) और (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षारहित होने से भी ॥

प्रकृति से भिन्न पुरुष न माना जाने पर कभी प्रकृति में प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति इन दो परस्पर विरुद्ध धर्मों को नहीं माना जा सकता और प्रकृति को किसी जीव के कर्मों की अपेक्षा नहीं, तब अकेली प्रकृति की प्रवृत्ति नियमानुकूल जगत् की व्यवस्थापिका कैसे हो सकती है ? परमात्मा ही इस कारण कर्त्ता-धर्त्ता हर्त्ता है ॥ ४ ॥

१७६—अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

पदार्थः-(तृणादिवत्) जैसे गौ के पेट में जाकर तृणादि स्वभाव से दुग्ध बनजाते हैं, इसी प्रकार प्रकृति भी स्वभाव से जगत् बन सकती है ? उत्तर-(न) नहीं क्योंकि (अन्यत्राभावात्) अन्य स्थान में न होने से ॥

गौ के पेट के अतिरिक्त अन्यत्र बैल के पेट में वा किसी स्थान में पड़े तृणादि का परिणाम दुग्ध नहीं बन सकता, किन्तु गौ बकरी आदि निमित्त के सहारे ही बनता है, इसी प्रकार परमात्मा (निमित्त कारण) के सहारे बिना केवल उपादान कारण प्रकृति का स्वाभाविक परिणाम जगत् नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

१७७—अभ्युपगमेऽप्यर्थाऽभावात् ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अभ्युपगमे) मान भी लिया जावे तो भी (अर्थाऽभावात्) प्रयोजन के अभाव से ॥

जड़ प्रकृति में प्रथम तो पूर्व सूत्रानुसार प्रवृत्ति नियमपूर्वक स्वतन्त्र हो नहीं सकती, और मान भी लेवें तो जड़ प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

१७८--पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

पदार्थः-(पुरुषाश्मवत्) जैसे एक अन्धा मनुष्य अटकल से वा अन्यों से बूझ कर मार्ग चल जाता है, वा जैसे चुम्बक पत्थर ज्ञानरहित भी लोहे को खींच लेता है, इसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी जगत् की रचना का काम कर सकती है, (इति) ऐसा (चेत्) यदि मानो (तथापि) तो भी ॥

ऐसा मानने पर भी परमात्मा की आवश्यकता प्रकृति को रहेगी क्योंकि अन्धे पुरुष को दूसरे पदार्थों की ओर चुम्बक को लोहे से सम्बन्ध कराने वाले की आवश्यकता रहती ही है। यदि स्वतः अनादि सम्बन्ध मानो तो सदा से सृष्टि रची रहनी चाहिये, समय विशेष से नहीं ॥ ७ ॥

१७९–अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

पदार्थः–(च) और (अङ्गित्वानुपपत्तेः) अङ्गी होने की उपपत्ति=सिद्धि नहीं होने से ॥

प्रकृति के तीन गुण सत्व, रज और तम एक दूसरे के अङ्ग और अङ्गी नहीं बनते, और चौथा कोई पदार्थ नहीं तब उन में क्षोभ कौन करावे, जिस से वे साम्याऽवस्था से विषमावस्था को प्राप्त हों और विकार सृष्टि बने, इसलिये क्षोभ का कराने वाला परमात्मा चेतन ही मानना होगा ॥ ८ ॥

१८०–अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

पदार्थः–(अन्यथा) अन्य प्रकार से (अनुमितौ) अनुमान करने में (च) भी (ज्ञशक्तिवियोगात्) चेतन शक्ति के वियोग से ॥

यदि प्रकृति के ३ गुणों का स्वभाव अन्यथा अर्थात् कभी संयोग और कभी वियोग का भी अनुमान कर लिया जावे तो भी उन में ज्ञान के न होने से ज्ञानपूर्विका सृष्टि की उत्पत्ति स्वयं कर लेने का सामर्थ्य नहीं। तब परमात्मा को ही निमित्त कारण मानना चाहिये ॥ ९ ॥

१८१–विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

पदार्थः–(विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोध से (च) भी (असमञ्जसम्) बेढंगा=बेठिकाने है ॥

गुणों=सत्व रज तम के परस्पर विरुद्ध उत्पादन और नाशनधर्म मान लेना भी तो अश्रद्धेय ही है ॥ १० ॥

१८२–महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

पदार्थः–(वा) या (ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां) परिमण्डल और ह्रस्व से (महद्दीर्घवत्) महत् और दीर्घ के समान ॥

यह सूत्र पूर्वपक्ष पक्ष में है। ह्रस्व शब्द क्रम में पश्चात् और परिमण्डल शब्द पूर्व होना चाहिये था, परन्तु अल्पाच्तर होने से उस को समास में

पूर्व रक्खा गया है। अर्थ यह है कि पूर्व सूत्र में जो स्वतन्त्र परमाणुओं से सृष्टि अपने आप उत्पन्न होती मानने में दोष दिया था कि परमाणु जड़ हैं, उन में परस्पर विरुद्ध उत्पादन और नाशन का सामर्थ्य मानना युक्त नहीं=असमञ्जस है, इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि १८० सूत्रानुसार अन्यथा अनुमान नहीं करते तो दूसरा पक्ष यह भी होसकता है कि 'जैसे ह्रस्व ह्रस्व मिल कर दीर्घ होजाता है, वा परिमण्डल परिमण्डल मिलकर महत् हो जाता है, वैसे ही संयोग से सृष्टि और वियोग से प्रलय मानलें तो क्या दोष है? ॥ ११ ॥ उत्तर——

१८३–उभयथाऽपि न कर्माऽतस्तदऽभावः ॥ १२ ॥

पदार्थः–(उभयथा) दोनों प्रकार से (अपि) भी (कर्म) क्रिया (न) नहीं होसकती (अतः) इस कारण (तदऽभावः) उत्पत्ति और प्रलय नहीं होसक्ते ॥

परिमण्डल उस परिमाण का नाम है, जो १ परमाणु का परिमाण है और सब से छोटा है। जिस से न्यून अन्य परिमाण नहीं होसकता। अब यह तो होसकता है कि अनेक परमाणुओं के अनेक परिमण्डलों से एक महत् परिमाण होजावे और दो ह्रस्वों का परिमाण मिला कर एक दीर्घ का परिमाण बन जावे। परन्तु परस्पर विरुद्ध दोनों प्रकार की क्रिया=१ संयोग और २-वियोग उन्हीं परमाणुओं में नहीं होसकते जब तक कि उन के संयोग वियोग का प्रयोजक कोई निमित्त कारण परमात्मा चेतन न माना जावे ॥ १२ ॥

१८४–समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

पदार्थः–(च) और (समवायाभ्युपगमात्) समवाय सम्बन्ध के मानने से (साम्यात्) समानता से (अनवस्थितेः) ठहर नहीं सक्ते ॥

प्रलय में सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों (द्रव्यों) के परमाणु साम्यावस्था में रहें तब प्रलय हो सकता है, और संयोग को उन का नित्य धर्म होने से समवाय संबन्ध हुवा, तब वियुक्त होकर साम्यावस्था में ठहरना नहीं बनता, इस कारण उन का संयोजक और वियोजक एक चेतन परमात्मा मानना आवश्यक है ॥ १३ ॥

१८५-नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

पदार्थः-(च) और (नित्यम्) सदा (एव) ही (भावात्) भाव रहने से ॥

और परमाणु में ४ बातें मान सकते हो, पांचवीं कोई नहीं । १ प्रवृत्ति २ निवृत्ति, ३ प्रवृत्ति और निवृत्ति, ४ न प्रवृत्ति, न निवृत्ति । अब यदि १ प्रवृत्ति मानें तो प्रवृत्ति नित्य होने से प्रलय न होगा । २-निवृत्ति मानें तो सदा निवृत्ति रहने से सृष्टि न होगी । ३-प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों मानें तो परस्परविरोध से असमञ्जस होने का दोष । ४-प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों न मानें तो निमित्त विना न सृष्टि हो, न प्रलय हो । सब निमित्तकारण परमात्मा को ही माने विना काम नहीं चल सकता ॥ १४ ॥

१८६-रूपादिमत्त्वाद्विपर्ययोदर्शनात् ॥ १५ ॥

पदार्थः-(रूपादिमत्त्वात्) रूप, रस, गन्ध इत्यादि गुणों वाला होने से (विपर्ययः) विपरीत है (दर्शनात्) देखने से ॥

प्रत्यक्ष देखते हैं कि जगत् रूपादि गुणों वाला है, फिर अरूप, अरस, अगन्ध ब्रह्म को उपादानकारण कैसे माना जावे ? ॥ १५ ॥

१८७-उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

पदार्थः-(च) और (उभयथा) दोनों प्रकार (दोषात्) दोष होने से ॥

ब्रह्म को उपादानकारण मानने वालों के दो पक्ष हो सकते हैं, १-यह कि चेतन ब्रह्म उपादानकारण है, २-यह कि ब्रह्म का अनादि मायांश उपादानकारण है । दोनों पक्ष ही दोषयुक्त हैं । १-पक्ष में ब्रह्म को विकारापत्ति २-पक्ष में अवयव वाला होने की आपत्ति,क्योंकि ब्रह्म में चेतनांश, मायांश भेद से दो अवयव हुवे, तो सावयव पदार्थ स्वयं नित्य नहीं होता, वह परमकारण कैसे हो ॥ १६ ॥

१८८-अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

पदार्थः-(अपरिग्रहात्) किसी शास्त्र ने इस मत का ग्रहण नहीं किया इस कारण (च) भी (अत्यन्तम्) सर्वथा (अनपेक्षा) अनादरणीयता है ॥

ब्रह्म के चेतनांश, मायांश की बात सत्वादि किसी शास्त्र ने भी नहीं मानी, इस कारण भी माननीय नहीं होसकती ॥ १७ ॥

१८९—समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

पदार्थः-(उभयहेतुके) उत्पत्ति और नाश दोनों के कारणों का (समुदाये) समुदाय मानने पर (अपि) भी (तदप्राप्तिः) व्यवस्था नहीं पावेगी ॥

क्योंकि दोनों जड़ों से व्यवस्था कौन करेगा कि जगत् कैसा कब उत्पन्न हो, कब प्रलय हो ॥ १८ ॥

१९०—इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (इतरेतरप्रत्ययत्वात्) एक दूसरे का प्रत्यय होने से । (न) सो नहीं, क्योंकि (उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्) पूर्वला पदार्थ अगले की उत्पत्तिमात्र का निमित्त है ॥

एक उत्पादक कारण, केवल दूसरे कार्य की उत्पत्ति मात्र का निमित्त होने से और स्वयं फिर उसी क्षण नष्ट होजाने से यह कहना भी नहीं बन सकता कि कार्य कारण में से एक दूसरे का प्रत्यय (प्रतीतिहेतु) बन सके ॥ १९ ॥ क्योंकि—

१९१—उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

पदार्थः-(उत्तरोत्पादे) अगले के उत्पन्न करने पर (पूर्वनिरोधात्) पहले का निरोध होजाने से (च) भी ॥

क्षणिकवादी के मत में अगले कार्य के उत्पन्न होते ही पूर्वला कारण रहता नहीं । सो कोई स्थिति बन नहीं सकती ॥ २० ॥

१९२—असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

पदार्थः-(असति) ऐसा न हो तो (प्रतिज्ञोपरोधः) क्षणिकवादियों की प्रतिज्ञाहानि है और (अन्यथा) दूसरी दशा में (यौगपद्यम्) एकवारगी ही सब की प्राप्ति आती है ॥

यदि क्षणिकवादी लोग पूर्व से पर की उत्पत्तिक्षण में ही पूर्व का नाश न मानें तो उन की प्रतिज्ञा (क्षणिक होने) की हानि है अन्यथा प्रतिज्ञा स्थिर रक्खें तो एक क्षण में ही सब पदार्थों की एक साथ उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है ॥ २१ ॥

१९३—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाऽप्राप्तिरविच्छेदात् २२

पदार्थः—(प्रति-०रोधाप्राप्तिः) प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति=सिद्धि न होगी, क्योंकि (अविच्छेदात्) विच्छेद न होने से ॥

क्षणिकवादी जो न तो ब्रह्म को निमित्त मानते, न प्रकृति को उपादान मानते, ऐसे वैनाशिक लोगों का मत यह है कि १-प्रतिसंख्यानिरोध, २-अप्रतिसंख्यानिरोध, ३-आकाश, इन तीन पदार्थों को छोड़ कर अन्य सब क्षणिक हैं । उन के मत में अपने अभिमत उक्त तीन पदार्थों का अर्थ इस प्रकार है कि-१-भावरूप पदार्थों का बुद्धिपूर्वक नाश=“प्रतिसंख्यानिरोध” है । २-उस के विपरीत=(भावों का अबुद्धिपूर्वक नाश) “अप्रतिसंख्यानिरोध” है । ३-आवरण का अभावमात्र=आकाश है । ये ३ भी उन के मत में अवस्तु, अभावमात्र, केवल संज्ञा ही संज्ञा है । व्यासदेव से पूर्व यह एक नास्तिकवाद था, इस के खण्डनार्थ व्यासमुनि इस सूत्र में पहले २ पदार्थों का प्रत्याख्यान करते हैं । विच्छेद के न होने से प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध दोनों नहीं बन सकते । क्योंकि प्रतिसं० और अप्रतिसं० या तो भावगोचर होंगे, या सन्तानगोचर । इन दोनों ही पक्षों में दोष है । भावगोचर तो इस लिये नहीं हो सकते कि किसी भाव का निरन्वय और निरुपाख्य नाश हो नहीं सकता । और सन्तानगोचर इस लिये नहीं हो सकते कि सभी सन्तानों में सन्तान वालों का निरन्तर (अविच्छिन्न) हेतु फल भाव (कारण-कार्यभाव) कभी टूट नहीं सकता । सभी अवस्थाओं में प्रत्यभिज्ञान (अनुभूतस्मृति) के बल से सन्तान वाले का विच्छेद होता देखा नहीं जाता । और ऐसी अवस्थाओं में भी जब कि प्रत्यभिज्ञान स्पष्ट नहीं होता, तब भी किसी जगह देखे हुवे अविच्छेद से दूसरी अवस्थाओं में भी उस का अनुमान किया जायगा ॥

इस कारण विनाशवादी क्षणिकों के मत से कल्पित १ प्रतिसंख्यानिरोध और २ अप्रतिसंख्यानिरोध, दोनों पदार्थों का प्रत्याख्यान होगया ॥ २२ ॥

१९४—उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

पदार्थः—(च) और (उभयथा) दोनों प्रकार (दोषात्) दोषापत्ति से ॥

बुद्धिपूर्वक भावों का विनाश जो प्रतिसंख्यानिरोध है, उस के भी दो पक्ष हो सकते हैं । १—साधन सहित सम्यग्ज्ञान से ? वा २-अपने आप ? १-यदि सम्यग्ज्ञान से भावों तो अकारण नाश मानने रूप प्रतिज्ञा का तत्पदूय

वादियों के सिद्धान्त की हानि है । २-यदि अपने आप मानो तो नाश का उपदेश करना व्यर्थ होगा, क्योंकि नाश तो अपने आप होगा ही। इस प्रकार दोनों पक्ष दूषित हैं ॥ २३ ॥

१९५-आकाशे चाऽविशेषात् ॥ २४ ॥

पदार्थः-(आकाशे) आकाश में (च) भी (अविशेषात्) कोई दूसरी बात विशेष न होने से ॥

जिस प्रकार १-प्रतिसंख्यानिरोध और २-अप्रतिसंख्यानिरोध की चर्चा हुई उसी प्रकार आकाश में समझो, कोई नई बात कहनी नहीं है । वह भी अवस्तु नहीं है, आकाश भी वस्तु है तब उस को भी अवस्तु=निरन्वय=निरुपाख्य नहीं कह सक्के ॥

जो लोग वेदादिशास्त्र को मानते हैं उन के लिये तो आकाश की वस्तुता सिद्ध करने को इतना ही पर्याप्त है कि-

एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः (तै० २ । १)

परन्तु जो तर्क से ही निश्चय करना चाहें, उन से भी कहना चाहिये कि गुण से गुणी का अनुमान हुवा करता है, तथा च शब्द गुण का कोई गुणी होना चाहिये जो अवस्तु नहीं, वस्तु हो । वह आकाश ही हो सकता है ॥ २४ ॥

१९६-अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

पदार्थः-(अनुस्मृतेः) अनुस्मृति से (च) भी ॥

क्षणिकवादी के मत में कोई पदार्थ स्थिर कुछ भी नहीं होसक्ता । तब उपलब्धि=ज्ञान का कर्त्ता=ज्ञाता भी क्षणिक होगा । फिर पूर्वोपलब्ध अथवा पहले जाने हुवे पदार्थ की फिर से उपलब्धि=अनुस्मृति न होनी चाहिये । ऐसा हो तो कोई किसी को पहचान न सके कि अमुक वस्तु वा पुरुष जिस को पूर्व काल में मथुरा में देखा था, उसी को पीछे से मेरठ में देखता हूं । और अनुस्मृति होती है, यह सर्ववादिसंमत प्रत्यक्ष है। इस कारण भी क्षणिकवाद ठीक नहीं ॥ २५ ॥

यदि कहो कि प्रकृति उपादान और परमात्मा निमित्त कारण मानने की क्या आवश्यकता है, असत् से सत् होता है । देखो नष्ट हुवे बीज से अङ्कुर उपजता है, नष्ट हुवे दूध से दही जमता है । बस नाश=अभाव से ही तो सब कुछ उत्पन्न होता है ? तो उत्तर-

१९७—नाऽसतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(असतः) अभाव से (न) कुछ उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि (अदृष्टत्वात्) ऐसा देखा नहीं जाता ॥

हम देखते हैं कि भावरूप बीज विना अङ्कुर नहीं, भावरूप दुग्ध विना दही नहीं उत्पन्न होता। हम नहीं देखते कि बीज न हो, पर अङ्कुर उपजे, दूध न हो, पर दही बनजावे। इस लिये असत् से सत् नहीं मान सक्ते ॥२६॥

१९८—उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

पदार्थः—(च) और (एवं) ऐसे (उदासीनानां) उदासीनों की (अपि) भी (सिद्धिः) कार्यसिद्धि होनी चाहिये ॥

यदि अभाव से भाव माना जावे तो जो किसान आदि उदासीन बैठे रहें, खेती बारी कुछ न करें, उनको भी खेती का लाभ होजावे, पर होता नहीं, इससे जाना जाता है कि अभाव से भाव नहीं होता ॥२७॥

१९९—नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

पदार्थः—(उपलब्धेः) पाया जाने से (अभावः) अभाव नहीं है ॥

यदि कोई कहे कि हम तो अभाव से भाव नहीं मानते, किन्तु यह कहते हैं कि बाह्य सब विषयों का भी अभाव ही है, मिथ्या ज्ञान से वा स्वप्नादि के समान असत्य (अभावरूप) पदार्थ भी भावरूप जान पड़ते हैं। इसका उत्तर सूत्रकार यह देते हैं कि प्रत्येक विषय भाव (सत्स्वरूप) पाया जाता है, इस लिये अभाव नहीं माना जा सक्ता ॥२८॥ तथा तुम जो स्वप्न का दृष्टान्त देते हो, उसका भी उत्तर सुनोः—

२००—वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

पदार्थः—(च) और (वैधर्म्यात्) साधर्म्य न होने से (स्वप्नादिवत्) स्वप्नादि के समान उपलब्धि (न) नहीं मानी जासक्ती ॥

स्वप्नदृष्ट उपलब्धि तो जागरणकाल में नहीं रहती, परन्तु जागरण काल की उपलब्धि तो स्वप्न के समान कालान्तर वा अवस्थान्तर में नष्ट नहीं होजाती, बनी रहती है। इस कारण स्वप्नादि का दृष्टान्त ठीक नहीं ॥

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जगत् को मिथ्या बताने वाले अद्वैत वादी भाई जो स्वप्नादि के दृष्टान्तों से अपना पक्ष (जगन्मिथ्यात्व)

सिद्ध किया करते हैं, उनका उत्तर व्यास जी ने इस सूत्र में स्पष्ट देदिया है। आश्चर्य है कि इस सूत्र को शंकराचार्य भी चुपचाप पचा गये और जगन्मिथ्यात्व की बाधा का कोई उत्तर किसी कल्पना (लक्षणा आदि) से नहीं दिया ॥ २९॥ यदि कहो कि वासनामात्र से उपलब्धि होने लगती है, यह आवश्यक नहीं कि सत् रूप ही पदार्थों की उपलब्धि हो। तो उत्तर—

२०१—न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

पदार्थः—(अनुपलब्धेः) जब कोई यथार्थ उपलब्ध न हो तो (भावः) वासना का होना भी (न) नहीं बनता ॥

यदि किसी विषय का भी सच्चा भाव नहीं है और केवल वासनामात्र से भाव भास पड़ते हैं तो जिन भावों से वासना बनी, वे भी उपलब्ध न थे, तो वासना का भी भाव नहीं माना जासक्ता ॥३०॥

२०२—क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

पदार्थः—(च) और (क्षणिकत्वात्) वासना के क्षणिक होने से ॥

वासना तो स्वप्नक्षण में होती है, फिर नहीं रहती, ऐसे घट पदार्थ तो क्षणमात्र उपलब्ध होकर फिर न रहें, सो नहीं है। इस कारण भी अभाववाद ठीक नहीं ॥ ३१ ॥

२०३—सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

पदार्थः—(सर्वथा) सब प्रकार (अनुपपत्तेः) सिद्ध न होने से (च) भी॥

बहुत क्या कहें, जितनी २ इस अभाववाद की परीक्षा की जावे, सब प्रकार इस वाद की सिद्धि नहीं बनती ॥ ३२ ॥

२०४—नैकस्मिन्नऽसंभवात् ॥३३॥

पदार्थः—(एकस्मिन्) एक पदार्थ में (न) परस्पर विरुद्ध दो बातें (न) नहीं होसक्ती, क्योंकि (असम्भवात्) असम्भव होने से ॥

आजकल जो मत प्रवृत्त हैं, वा अन्य जो सप्तभङ्गीन्याय मानने वाले हैं, उनके मत का खण्डन भी इस सूत्र से होता है। क्योंकि व्यास जी ब्रह्म-वादी थे, इस कारण उन्होंने नास्तिक मत जिस २ प्रकार के होसक्ते हैं, सब का प्रत्याख्यान अपने सूत्रों में किया है। यह आवश्यक नहीं कि उस२ प्रकार से नास्तिक मत संप्रदाय रूप से उपस्थित होते तभी व्यास जी ऐसा प्रत्याख्यान करते, किन्तु मतवादियों के वा मतों के खड़े होने से पूर्व भी

ऐसा होसक्ता है कि उन २ प्रकार की कल्पना करके पूर्व से ही उसका प्रतिवाद किया जावे । सप्तभङ्गीन्याय वाले कहते हैं कि—

१–स्याद्ऽस्ति=पदार्थ का किसी रूप से होना ॥

२–स्यान्नाऽस्ति=पदार्थ का किसी रूप से न होना ॥

३–स्याद्ऽस्ति च, नास्ति च=पदार्थ का किसी रूप से होना भी और न होना भी ॥

४–स्याद्ऽवक्तव्यम्=पदार्थ का किसी रूप से होना, परन्तु कहा न जासकना॥

५–स्याद्ऽस्ति चाऽवक्तव्यं च=पदार्थ का किसी रूप से होना भी और कथन योग्य न होना भी ॥

६–स्यान्नाऽस्ति चाऽवक्तव्यं च=पदार्थ का किसी रूप से न होना भी और कथन योग्य न होना भी ॥

७–स्याद्ऽस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यं च=पदार्थ का किसी रूप से होना भी, न होना भी और कथन योग्य न होना भी ॥

सूत्रकार ने इस सूत्र में कहा है कि एक ही पदार्थ में होना न होना आदि परस्परविरुद्ध धर्म नहीं माने जासक्ते, इस कारण जीवात्मा, परमात्मा, प्रकृति, इन ३ के मानने की ही आवश्यकता है ॥३३॥ तथा—

२०५–एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥३४॥

पदार्थः–(च) और (एवं) ऐसा मानने से (आत्माऽकार्त्स्न्यम्) आत्मा की असंपूर्णता का दोष आवेगा । जब एक पदार्थ में अनेक धर्म मानोगे तो आत्मा भी विकारी होगा, तब वह कूटस्थ अटूट एकरस न रहेगा । तब न केवल अनीश्वरवाद पर सन्तोष हो सकेगा, प्रत्युत जीवात्मा भी अच्छेद्य अदाह्य आदि विशेषणों वाला न कहा जा सकेगा, और अनीश्वरवादी=केवल जीव ही को ईश्वर पदवी देने वालों का मत भी ठीक न बनेगा ॥ ३४ ॥

२०६– न च पर्यायादप्यविरोधोविकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

पदार्थः–(च) और (पर्यायात्) बारी २ से (अपि) भी (विकारादिभ्यः) विकारादिदोषों से (अविरोधः) विरोधाऽभाव (न) नहीं ॥

यदि इस परस्परविरोध के हटाने को यह हेतु दिया जावे कि पर्याय (बारी २) से कभी कैसा और कभी कैसा मान लेंगे, तो विकारादि दोषों से बचाव न होगा ॥३५॥ स्याद्वादी के मत में एक और दूषण देते हैं:–

२०७—अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

पदार्थः—(अन्त्यावस्थितेः) अन्त में होने वाले मुक्त शरीर पर अवस्थिति =ठहराव होने से (अविशेषः) विशेषता मुक्ति की नहीं रहती, क्योंकि (उभय नित्यत्वात्) बद्ध और मुक्त दोनों की नित्यता से ॥

स्याद्वादी भी जीव को नित्य मानते हैं, साथ ही मुक्ति भी मानते हैं, साथ ही आर्हत मत के समान जीव का परिमाण शरीर के परिमाण के बराबर मानते हैं, तब विकारादि दोषों के अतिरिक्त मुक्त बद्ध में विशेष [अन्तर] भी कुछ नहीं रहता। क्यों कि दोनों में एकसी नित्यता हुई ॥३६॥

२०८—पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(पत्युः) ईश्वर सर्वाधिकारी के (असामञ्जस्यात्) समञ्जस न होने से ॥

यदि जगत्कर्त्ता ईश्वर न मान कर जीव को ही मुक्तावस्था में ईश्वर भाव माना जावे तो पूर्व सूत्रानुसार बद्ध मुक्त में विशेषता के अभाव से कोई किसी का अधिकारी ईश्वर नहीं बन सकता ॥

शङ्कराचार्य जी ने इस सूत्र को इस प्रकार लगाया है कि "केवल निमित्त कारण ईश्वर=पति का होना संभव नहीं" क्यों कि पूर्व "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृ०" और "अभिध्योप०" सूत्रों से अभिन्ननिमित्तोपादन कारणता कह चुके हैं। इत्यादि ॥

परन्तु उक्त दोनों सूत्रों को जिस प्रकार हमने लगाया था, उस प्रकार से प्रकृति और ईश्वर दोनों भिन्न २ एक जड़ उपादान, दूसरा चेतन निमित्त कारण सिद्ध किया था, तब ईश्वर के न मानने वालों के खण्डन प्रकरण में इस सूत्र का भेदवाद के विरोध में लगाना प्रकरणविरुद्ध और अनावश्यक है, अत एव ऊपर का हमारा अर्थ ही ठीक है ॥ ३७ ॥

अब दूसरा हेतु देकर जीव को ही ईश्वर पदवी देने वालों का खण्डन करते हैं:—

२०९—संबन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

पदार्थः—(च) और (संबन्धानुपपत्तेः) संबन्ध के सिद्ध न होने से ॥

यदि बद्ध मुक्त दोनों दशाओं में अविशेष [देखो सूत्र २०७] भाव से रहने वाले जीव को ही ईश्वर पदवी देवें तो जीवों में एक का दूसरे से कोई

व्याप्य व्यापक, पूज्य पूजक, दयालु दयनीयादि संबन्ध न बनने से भी यह निरीश्वर मुक्तिवाद ठीक नहीं ॥ ३८ ॥

२१०—अधिष्ठानाऽनुपपत्तेश्च ॥३९॥

पदार्थः— (च) और (अधिष्ठानानुपपत्तेः) कोई किसी पर अधिष्ठाता सिद्ध न होने से ॥

सब जीवों की शक्ति बराबर है, और अधिष्ठाता ईश्वर माना न जावे तो मुक्ति की व्यवस्था कौन करे तथा मुक्ति का आनन्द किससे मिले ॥३९॥

२११—करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (करणवत्) करण=साधन=इन्द्रियें वा मन उस के स्वरूप में मानें तो भी (न) नहीं होसक्ता, क्योंकि (भोगादिभ्यः) भोग प्राप्ति आदि दोषों से ॥

यदि नये पदवी पाये ईश्वर में करण इन्द्रियें आदि मानें तो भोगी होने का दोष आवेगा। क्योंकि जहां भोग वहां रोग। फिर मुक्ति में संसार से विशेष कुछ नहीं होगा ॥ ४० ॥

२१२—अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(अन्तवत्त्वम्) अन्तवान् होना (वा) अथवा (असर्वज्ञता) सर्वज्ञ न होना ॥

परिच्छिन्नस्वरूप जीव ही को ईश्वर पदवी देने से ईश्वर का परिमाण अनन्त और उस का ज्ञान अनन्त नहीं हो सक्ता ॥ ४१ ॥

२१३—उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(उत्पत्त्य०) उत्पत्ति हो नहीं सकने से ॥

अनादि अनन्त सर्वज्ञ कर्त्ता न मानने पर यह भी नहीं कहसक्ते कि ऐसा ईश्वर=कोई जीव है तो नहीं, परन्तु नया उत्पन्न होजाता है क्योंकि उत्पत्ति असम्भव है, हो नहीं सक्ती ॥ ४२ ॥

२१४—न च कर्त्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(च) और (कर्त्तुः) कर्त्ता का कोई (करणम्) साधन भी नहीं है ॥

नया ईश्वर बनाने को किसी के पास कोई साधन भी नहीं है, जिस से मुक्ति की व्यवस्था हो सके ॥

२१३ और २१४ सूत्रों पर शङ्कराचार्य अपने अभिमत अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद का भी एक प्रकार से खण्डन करते हैं। वे यहाँ से एक नवीन "अधिकरण" आरम्भ करते हैं और कहते हैं कि—

येषां पुनः प्रकृतिश्चाऽधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते ॥

अर्थात् जो लोग फिर यह मानते हैं कि जगत् का उपादान (प्रकृति) और अधिष्ठाता (निमित्त) दोनों प्रकार का कारण एक ही ईश्वर है, उन के पक्ष का खण्डन किया जाता है ॥

इतना कह कर अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद के खण्डन को टालकर भागवतों का खण्डन करने लगे हैं। वास्तव में तो अद्वैतवाद=अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद का भी खण्डन शंकरभाष्य से होता है, अकेले भागवतों का नहीं। क्योंकि शंकरभाष्य में ("उत्पत्त्यसंभवात्" पर) लिखा है कि-

शंकरभाष्य का भावार्थमात्र—

"भागवत मानते हैं कि एक वासुदेव भगवान् ही निरञ्जन ज्ञानस्वरूप वास्तविक तत्त्व है, वह अपने आपे को चार विभाग करके प्रतिष्ठित है। १-वासुदेवव्यूहरूप से, २-संकर्षणव्यूह रूप से, ३-प्रद्युम्नव्यूह रूप से और ४-अनिरुद्धव्यूह रूप से। १-वासुदेव नाम परमात्मा कहाता है। २-संकर्षण नाम=जीव। ३-प्रद्युम्ननाम=मन और ४-अनिरुद्धनाम=अहंकार। उन में से वासुदेवनाम परा प्रकृति है, अन्य संकर्षणादि (उस के) कार्य हैं। इस प्रकार के उस परमेश्वर भगवान् के समीप जाना, ग्रहण करना, पूजा करना, स्वाध्याय और योग करना, इन उपायों से १०० वर्ष तक पूज कर क्लेश क्षीण हो जाते हैं, तब (जीव) भगवान् से ही मिलजाता है।

इस (कथन) में से इस अंश का खण्डन नहीं किया जाता कि "जो नारायण अव्यक्त (प्रकृति) से सूक्ष्म सर्वात्मा परमात्मा प्रसिद्ध है, अपने आप को अनेक प्रकार से व्यूहरचना करके स्थित है। क्योंकि यह अंश तो "सएकधा भवति० छां० ७।२६।२" इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का अनेक भावों को प्राप्त होना माना ही गया है। और इस अंश का भी खण्डन नहीं किया जाता कि उस भगवान् के समीप जाना आदि आराधन, अनन्य चित्त से निरन्तर माना गया है। क्योंकि श्रुतिस्मृतियों में ईश्वरभक्ति को तो प्रसिद्ध है ही ॥

परन्तु यह जो कहते हैं कि वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न होता है। इस पर हम (शंकर) कहते हैं कि-वासुदेव संज्ञक परमात्मा से संकर्षणसंज्ञक जीव की उत्पत्ति नहीं होसकती। क्योंकि अनित्यत्वादि दोष पावेंगे। उत्पत्ति वाला होने पर जीव में अनित्यत्वादि दोष आवेंगे। तब फिर उस को भगवान् की प्राप्ति मुक्ति न हो सकेगी। क्यों कि कार्य जब कारण को प्राप्त होजाता है, तब स्वयं (कार्य) का प्रलय होजाता है। और आचार्य (व्यासजी) जीवकी उत्पत्ति का निषेध भी करेंगे कि "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः"। वे० सू २। ३। १७ इस कारण यह (भागवतों की) कल्पना असंगत है" ॥

अब विचारना यह है कि क्या ये ही दोष जीव को ब्रह्म से अभिन्न मानने और प्रकृति को भी उस से अभिन्न मानने में नहीं आते ? जब समान दोष हैं तब बेचारे भागवतों ने वह कौन सा पृथक् अपराध किया है कि आप उन का खण्डन और अपना मण्डन समझते हैं ॥ ४३ ॥

२१५-विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४३ ॥

भावार्थः-(वा) अथवा (विज्ञानादिभावे) यदि ईश्वर पदवी पाये जीव में सर्वविज्ञान, सर्वव्यापकता आदि भाव मानलिया जावे तो (तद्-प्रतिषेधः) वेदान्तप्रतिपाद्य परमात्मा की सत्ता का प्रतिषेध करते हो सो नहीं होसकता ॥ ४४ ॥

२१६-विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

पदार्थः-(च) और (विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोध दोष आने से भी ॥

अनादि स्वतन्त्र सर्वज्ञ सर्वव्यापक ईश्वर को न भी मानना और अपनी ओर से ईश्वर पदवी पाये जीव में वे सब बातें मानलेनी, जो ईश्वरवादी ईश्वर में बताते हैं, यह परस्परविरोध भी है ॥ ४५ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते

वेदान्तदर्शनऽभाषानुवादभाष्ये

द्वितीयाध्यायस्य

द्वितीय.पादः ॥२॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

पूर्वपाद में ईश्वर के कर्त्ता होने के विरुद्ध तर्कों का उत्तर और समाधान किया गया। इस तृतीय पाद में आकाश वायु आदि की नित्यता अनित्यता पर विचार करते हैं:—

२१७—न वियदश्रुतेः ॥१॥

पदार्थः—(अश्रुतेः) श्रुति में न आने से (वियत्) आकाश (न) कोई द्रव्य नहीं है ॥

किसी श्रुति में आकाश का वस्तु होना नहीं बताया, फिर उसको क्यों मानें। यह पूर्व पक्ष है ॥ १ ॥ उत्तर पक्ष आगे करते हैं कि—

२१८—अस्ति तु ॥२॥

पदार्थः—(अस्ति) है (तु) तो ॥

आकाश की उत्पत्ति है तो सही। क्योंकि—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" तै० २।१

अर्थात् इस आत्मा ने आकाश को उत्पन्न किया। इस कारण आकाश उत्पन्न कार्य पदार्थ है ॥

आगे फिर पूर्व पक्ष को हेतु से उठाते हैं:—

२१९—गौण्यसंभवात् ॥३॥

पदार्थः—(असंभवात्) संभव न होने से (गौणी) यह श्रुति गौणी है, मुख्य नहीं ॥

आकाश का नाश होकर प्रलय होना ही संभव नहीं, तब उत्पत्ति बताने वाली श्रुति मुख्याऽऽकाशपरक नहीं किन्तु गौणार्थपरक होगी ॥३॥

उत्तर—

२२०—शब्दाच्च ॥४॥

पदार्थः—(शब्दात्) शब्द से (च) भी ॥

आगे उसी श्रुति के शब्द "संभूतः" से भी यही पाया जाता है कि वह श्रुति गौणी नहीं। क्योंकि वायु अग्नि जल पृथिवी अन्न वीर्य पुरुष; सबको

साथ "संभूतः"-विशेषण है, तब क्या वे भी गौण भाव से कहे गये ? यदि वे गौणार्थक नहीं तो आकाश की उत्पत्ति को गौणी क्यों माना जावे ॥४॥
पुनः पूर्व पक्षः-

२२१-स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

पदार्थः-(एकस्य च) एक ही का दो प्रकार का अर्थ (स्यात्) होजायगा (ब्रह्मशब्दवत्) ब्रह्म शब्द के समान ॥

जिस प्रकार तै० ३।२ में "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपोब्रह्म" अर्थात् तप से ब्रह्मविज्ञान की इच्छा कर, तप ब्रह्म है। यहां 'ब्रह्म' इस एक ही शब्द के जिस प्रकार दो अर्थ हैं। १-ब्रह्मविज्ञान का साधन तप, २-ब्रह्म तप। इन में से पहला ब्रह्म शब्द मुख्यार्थक परमात्मा ब्रह्म का वाचक है, और दूसरा ब्रह्म शब्द तप का विशेषण होने से गौणार्थक है। अर्थात् तप की बड़ाई करने को तप को ब्रह्म=बड़ा कहा गया है। इसी प्रकार आकाश के साथ संभूतः का उत्पन्न हुआ अर्थ न करके प्रादुर्भाव मात्र वा व्यवहार मात्र में आया, इतना अर्थ किया जावे, और वायु आदि के साथ संभूतः का अर्थ उत्पन्न हुआ, ऐसा मुख्यार्थ लिया जावे, तब आकाश की उत्पत्ति इस वचन से नहीं पाई जा सकती ॥५॥

तथा प्रतिज्ञाहानि भी न होगी, क्योंकि "खं ब्रह्म" इत्यादि वेदवाक्यों में ख=आकाश के समान ब्रह्म को नित्य कहा है। अब आकाश की नित्यता बनी रहने से प्रतिज्ञाहानि न होगी, अन्यथा आकाश की उत्पत्ति मानकर प्रतिज्ञाहानि होगी। उत्तर-

२२२-प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

पदार्थः-(अव्यतिरेकात्) भिन्न देशवर्ती न होने से (प्रतिज्ञाऽहानिः) प्रतिज्ञा की हानि नहीं है। (शब्देभ्यः) शब्दों से यह सिद्ध है ॥

ब्रह्म को आकाश की उपमा सर्वगत होने में मानी जायगी, अनुत्पन्नता वा कूटस्थता में नहीं। तब अव्यतिरेक=भिन्नदेशवर्त्तिता के न रहने से सर्वगतत्व की प्रतिज्ञा में हानि नहीं होगी। शब्द प्रमाणों से यह सिद्ध है। यथा-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ तै० ३।१ इत्यादि में यह प्रतिज्ञा है कि भूत उत्पत्ति वाले हैं और आकाश भी भूतान्तर्गत है ॥ ६ ॥

२२३-यावद्विकारं तु विभागोलोकवत् ॥७॥

पदार्थः-(विभागः) भूतों का विभाग (तु) भी (यावद्विकारम्) विकार मात्र तक है (लोकवत्) लोक के समान ॥

पञ्च महाभूतों का विभाग=पृथिवी जल तेज वायु आकाश भी यही जतलाता है कि जहां तक विकार है, वहां तक विभाग किया है अर्थात् एक से दूसरे को भिन्न कथन किया है। जैसे लोक में कट से कुण्डल को, सूची से बाण को, घट से पट को भेद बतला कर विभाग करते हैं, तब अपने जैसे पदार्थों का विभाग कहा जाता है। बस आकाश भी पञ्च महाभूतों के विभाग में आता है। अन्य भूत विकारी हैं, आकाश भी विकारी होने से अनित्य और उत्पत्तिमान् हुआ ॥

स्वामी शंकराचार्यादि अद्वैतवादी कहते हैं कि विभाग अर्थात् भेद कहने से आकाश विकारी और अनित्य है। तो हम यह कहेंगे कि फिर भूतों से ब्रह्म भिन्न है, तब क्या वह भी अनित्य है? इस लिये यही अर्थ ठीक है कि जो हमने ऊपर लिखा ॥ ७॥

तथा अगले सूत्र में वायु को भी आकाशोक्त हेतुओं से ही उत्पत्तिमान् बतलाया है। यथा—

२२४-एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

पदार्थः-(एतेन) इसी से (मातरिश्वा) वायु (व्याख्यातः) व्याख्यात होगया ॥

पञ्चमहाभूतान्तर्गतत्व और विभागोक्त तथा विकारी होने से ही आकाश के समान वायु भी उत्पत्तिमान्=अनित्य है ॥८॥

२२५-असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

पदार्थः-(सतः) नित्य पदार्थ का उत्पन्न होना (तु) तो (असंभवः) संभव नहीं। क्योंकि (अनुपपत्तेः) उपपत्ति=युक्ति से सिद्ध नहीं होसक्ता।९॥

२२६-तेजोऽतस्तथाह्याह ॥ १०॥

पदार्थः-(अतः) इसी कारण से (तेजः) तेजस्तत्त्व को भी (तथा हि)

वैसा=अनित्य=उत्पत्ति वाला (आह) शास्त्र कहता है ॥

"तत्तेजोऽसृजत=उस (परमात्मा) ने तेज को रचा।" इत्यादि वचनों में तेज को भी उत्पन्न हुआ कहा है ॥ १० ॥

२२७—आपः ॥ ११ ॥

पदार्थः-(आपः) अप्तत्त्व [भी इसी कारण उत्पत्तिमान्=अनित्य है ॥]. परमात्मा ने उत्पन्न किया, इस से जल भी अनित्य है ॥ ११ ॥

२२८—पृथिव्यऽधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अधिकार रूप शब्दान्तरेभ्यः) अधिकार से, रूप से और अन्य शब्दों से (पृथिवी) पृथिवी तत्त्व [भी उत्पन्न और अनित्य है.] ॥

छां० ६।२।४ में कहा है कि—"ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त" ॥ अर्थात् उस अप्तत्त्व ने ईक्षण किया कि हम बहुत होवें, प्रजा उत्पन्न करें, तब उन्हों ने पृथिवी को सृजा ॥ इस में संशय यह होता था कि जल से अन्न की उत्पत्ति बतलाने में अन्न का अर्थ क्या है। प्रतीत यह होता है कि अन्न का अर्थ प्रसिद्ध है कि यव, गोधूम, तिल, माष, चावल आदि को अन्न कहते हैं, परन्तु व्यास जी इस सूत्र में यह कहते हैं कि अन्न का अर्थ इस प्रकरण में पृथिवी है। और पृथिवी की उत्पत्ति बताने से अनित्यता कही गई है। यहां अन्न का अर्थ पृथिवी मानने के ३ हेतु हैं। १—अधिकार। तत्तेजोऽसृजत। तदपोऽसृजत। इत्यादि में अधिकार=प्रकरण पञ्चमहाभूतों का है, पृथिवी ही महाभूतान्तर्गत है, अतः अन्न का अर्थ यहां पृथिवी है। २-रूप। यत्कृष्णं तदन्नस्य। इस वचन में कहा है कि कलौंस=कालापन अन्न का रूप है। परन्तु हम देखते हैं कि गेहूं, जौ, चना, मटर आदि का रंग काला हो, ऐसा नहीं है। इस से भी अन्न का अर्थ पृथिवी जान पड़ता है। ३-शब्दान्तर=अन्यशब्द। "अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्"। इन शब्दों से भी पाया जाता है कि ओषधि अन्न और पृथिवी भिन्न २ तीन कार्य हैं। उन में जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न। इस प्रकार कहा है। जल से सीधा अन्न उत्पन्न होना नहीं कहा। इन हेतुओं से जाना जाता है कि "ता अन्नमसृजन्त" इत्यादि प्रकरणों में अन्न=पृथिवी है ॥ १२ ॥

प्रश्न-पूर्व सूत्रों और वेदान्तवाक्यों से तो ऐसा जान पड़ता है कि पृथिवी को जल ने उत्पन्न किया, जल को अग्नि ने, अग्नि को वायु ने, वायु को आकाश ने। फिर सब का उत्पादक ब्रह्म परमात्मा न रहा? उत्तर-

२२९-तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

पदार्थः-(तु) परन्तु (तदभिध्यानात्) उस ब्रह्म के अभिध्यान से (तल्लिङ्गात्) जो परमात्मा की पहचान है, उस से (सः) वही उत्पत्ति का कर्त्ता है ॥

अभिध्यान=विचार से सृष्टि हुई, अन्धाधुन्ध से नहीं। अभिध्यान परमात्मा की पहचान है। इस कारण कर्त्ता वही परमात्मा है, पृथिवी से ओषधि उत्पन्न होने में पृथिवी तो उपादान मात्र है, निमित्त तो परमात्मा ही है ॥ १३ ॥

२३०-विपर्ययेण तु क्रमोऽतउपपद्यते च ॥ १४ ॥

पदार्थः-(तु) परन्तु (अतः) इस से (विपर्ययेण) विपरीतभाव से (क्रमः) प्रलय का क्रम है (च) और (उपपद्यते) युक्तिसिद्ध भी है ॥

उत्पत्तिक्रम का विचार हो चुका, अब प्रलय का क्रम विचारते हैं। उत्पत्तिक्रम के विपरीत क्रम से प्रलय होता है। यह बात युक्त है। प्रश्न यह था कि उत्पत्ति के समान क्रम से प्रलय होता है, वा अनियत क्रम से, वा विपरीत क्रम से? उत्तर यह है कि शास्त्र में सृष्टि वा प्रलय दोनों का कर्त्ता परमात्मा कहा है। सब कुछ परमात्मरूप आधार में विद्यमान प्रकृति से उत्पत्ति को प्राप्त होकर प्रलय काल में परमात्मा में ही प्रलीन होकर अवस्थित रहता है। उस का क्रम उत्पत्ति के क्रम से विपरीत होना युक्त है। जैसे उत्पत्तिकाल में परमात्मा ने अनादि प्रकृति से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी क्रम से उत्पन्न किये तो प्रलयकाल में विपरीत क्रम यह होगा कि पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश प्रकृति में और प्रकृति परमात्मा में स्थित रह जायगी। यह बात युक्तिसिद्ध होने के अतिरिक्त स्मृतिकारों ने भी मानी है। यथा-शङ्कराचार्य स्मृतिवचन-

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥

इत्यादि ॥ १४ ॥

२३१—अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गा-
दिति चेन्नाऽविशेषात् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (विज्ञानमनसी) बुद्धि और मन (क्रमेण अन्तरा) क्रम के बिना होते हैं, क्योंकि (तल्लिङ्गात्) उस का लिङ्ग=पहचान पाये जाने से, सो (न) नहीं क्योंकि (अविशेषात्) कुछ विशेष न होने से ॥

यदि यह शङ्का की जावे कि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति और प्रलय के अनुलोम प्रतिलोम क्रम, बुद्धि और मन के उत्पत्ति और प्रलय में नहीं रहते क्योंकि ऐसे वचन पाये जाते हैं कि—

एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥
(मुण्डकोपनि० २ । १ । ३)

इत्यादि वाक्यों में परमात्मा ने इस क्रम से उत्पत्ति की, वर्णित है कि—परमात्मा ने प्राण, मन, सब इन्द्रियें, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व की धारिणी पृथिवी को उत्पन्न किया ॥

उत्तर—मन बुद्धि आदि अन्तःकरण और चक्षु आदि बहिःकरण भी भौतिक हैं । इस लिये भूतों की उत्पत्ति वा प्रलय के क्रम का भङ्ग नहीं कर सकते । उन की उत्पत्ति वा प्रलय में कोई विशेष नहीं है । क्योंकि—

अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् ॥
(छां० ६ । ५ । ४)

अन्न से मन बना है, जल से प्राण, तेज से वाणी । इत्यादि से मन आदि की उत्पत्ति भौतिक होने से भूतान्तर्गत है, विशेष नहीं । वस अपने २ भूत में मन आदि का प्रलय भी होने से, भूतों का प्रलय अपने उत्पत्तिक्रम के विपरीतक्रम से भङ्ग न होगा ॥

यही मुण्डकोपनिषद् की बात कि उस में मन आदि के पश्चात् भूतों की उत्पत्ति कही है, सो वहां क्रम विवक्षित नहीं । केवल यह विवक्षा है कि स्थूल सूक्ष्म सब जगत् के पदार्थों का स्रष्टा परमात्मा है ॥ १५ ॥

२३२–चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

पदार्थः–(तद्व्यपदेशः) जीवात्मा का उत्पत्ति प्रलय कथन (तु) तो (चराचरव्यपाश्रयः) चराऽचर देहाश्रित (भाक्तः) गौण (स्यात्) होगा, क्योंकि (तद्भावभावित्वात्) चराऽचर देहों के भाव से भावित है ॥

अगले सूत्र में कहेंगे कि आत्मा की उत्पत्ति और प्रलय नहीं, इस लिये इस सूत्र में उत्पत्ति प्रलय की शङ्का का प्रथम ही निवारण करते हैं । भूतों की उत्पत्ति प्रलय के प्रकरण में सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि जीवात्मा भी उत्पत्ति और प्रलय को प्राप्त होवे तो किस क्रम से । लोक में " देवदत्त उत्पन्न हुवा, यज्ञदत्त मर गया " इत्यादि व्यपदेश=व्यवहार का कथन होता है, उस से ऐसा भान पड़ता है कि जीवात्मा भी जन्मता मरता है, परन्तु सूत्रकार कहते हैं कि जीवात्मा का जन्म मरण कथन भाक्त अर्थात् गौण वा औपचारिक है, चराचर देहों के उत्पत्ति और मरण के भावों को देखकर उन भावों से भावित जीवात्मा का भी जन्म मरण कहने में आता है, वास्तव में नहीं ॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते,न जीवो म्रियते (छां० ६।११।३)

यह शरीर जीव के निकल जाने पर मर जाता है, जीव स्वयं नहीं मरता ॥ तथा–

सवा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः, स उत्क्रामन् म्रियमाणः ॥ बृह० ४ । ३ । ८ ॥

यह जीवात्मा, शरीर को प्राप्त होता हुवा जन्मता और शरीर से निकलता हुवा=मरता कहाता है ॥ १६ ॥ किन्तु–

२३३–नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

पदार्थः–(आत्मा) जीवात्मा (न) उत्पत्ति प्रलय वाला नहीं है । (ताभ्यः) उन श्रुतियों से (च) और (नित्यत्वात्) नित्य होने से (अश्रुतेः) जीवात्मा की उत्पत्ति और प्रलय वेदोक्त न होने से ॥

जीवात्मा के उत्पत्ति प्रलय न होने में यह सूत्र ३ हेतु देता है। १-यह कि श्रुति ने कहीं उत्पत्ति प्रलय जीवात्मा के नहीं कहे। २-यह कि जीवात्मा नित्य है। ३-यह कि "न जीवो म्रियते" इत्यादि वचनों में उस का जन्म मरण न होना कहा है। इस लिये परमात्मा ने जीवात्मा को अन्य सृष्टि की नाईं रचा नहीं, न जीवात्मा का प्रलय होगा। यह अनादि अनन्त नित्य है ॥ १७ ॥

२३४-ज्ञोऽतएव ॥ १८ ॥

पदार्थः-(अतःएव) इसी कारण से (ज्ञः) चेतन है ॥

क्योंकि जीव प्राकृत और उत्पत्तिविनाशरहित है, अतएव चेतन भी है, जड़ नहीं ॥ १८ ॥

आगे यह विचार चलाते हैं कि जीव अणु है, वा विभु=सर्वव्यापक ? उत्तर-

२३५-उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

पदार्थः-(उत्-नाम्) उत्क्रान्ति=देह से निकलना, गति=अन्य देह में जाना, आगति=अन्यदेह से वर्त्तमान देह में आना; इन ३ बातों के होने से जीव विभु नहीं, अणु है ॥

शांकरभाष्य कारिका-

जीवोऽणुः सर्वगोवा स्यादेषोऽणुरिति वाक्यतः।
उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव सः ॥ १ ॥

अर्थः-जीव अणु है, वा विभु ? उत्तर-"एषोऽणुरात्मा" मुण्डक ३।१।९ इत्यादि वाक्य से अणु है, तथा उत्क्रान्ति, गमन और आगमन से भी अणु ही है ॥ १९ ॥ तथा-

२३६-स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

पदार्थः-(उत्तरयोः) पूर्व सूत्रोक्त १-उत्क्रान्ति, २-गति, ३-आगति, इन में से अगली दो बातें=१-गति, २-आगति में (च) तो (स्वात्मना) स्वरूप से ही [अणुत्व सिद्ध है] ॥

उत्क्रान्ति=देह का त्याग तो देह में रहते भी हो सकना मान सक्ते हैं, जैसे ग्राम का स्वामी ग्राम में रहता है और ग्राम में रहते हुवे भी स्वामित्व

का अधिकार छिन जाने से ग्राम का छूटना कहा जाता है, इसी प्रकार हो सकता है कि अपने कर्म का फल पा चुकने पर देह में रहता हुवा भी परमेश्वर की व्यवस्थानुसार देह पर अधिकारों से हटा लिया जावे, इस लिये सूत्रकार कहते हैं कि गमनाऽऽगमन तो स्वरूप से ही होते हैं, अतएव जीव विभु नहीं, अणु है ॥ २० ॥

२३७-नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (अतच्छ्रुतेः) इसके विरुद्ध श्रुति होने से (न अणुः) अणु नहीं । सो (न) नहीं क्योंकि (इतराधिकारात्) उस श्रुति में इतर=अन्य=ईश्वर का प्रकरण है, जीव का नहीं॥

"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः"

इत्यादि श्रुतियों में अणुत्व से विरुद्ध सर्वव्यापकता वर्णित है, इसलिये शङ्का होती है कि जीव विभु होगा। उत्तर यह है कि यहां ईश्वर का अधिकार= प्रकरण है, जीव का नहीं ॥ २१ ॥ तथा—

२३८-स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

पदार्थः-(स्वश-भ्यां) अपने शब्द और उन्मान से (च) भी अणुत्व सिद्ध है ॥

१-जीवात्मा को स्वविषयक शब्द में अणु कहा है । यथा-एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ॥ मुं० ३ । १ । ९ यह प्राण के संबन्ध से जीवात्मा का वर्णन स्पष्ट है, परमात्मा का संदेह नहीं रहता, और अणु शब्द स्पष्ट आया है । २-उन्मान से भी जीव अणु है अर्थात् जहां जीव की नाप बताई गई है, वहां भी अणुत्व ही कहा है । यथा-

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागोजीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥
श्वेताश्वतर ५ । ८ ॥ तथा—
आराग्रमात्रोह्यवरोऽपि दृष्टः ॥ श्वे० ५ । ८

अतएव जीवात्मा का परिमाण अणु है ॥ २२ ॥

२३९--अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

पदार्थः-(चन्दनवत्) चन्दन के समान (अविरोधः) विरोध नहीं रहता॥

जिस प्रकार चन्दन केवल मस्तक पर लगाया जावे तो भी समस्त देह को आह्लाद देता है, इसी प्रकार केवल हृदय देश में वर्त्तमान जीवात्मा भी समस्त देह को चेतनायुक्त कर देने में समर्थ हो जाता है ॥ २३ ॥

२४०—अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि॥२४॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (अवस्थितिवैशेष्यात्) विशेषाऽवस्थिति होने से । तो (न) नहीं । क्योंकि (हृदि) हृदय में (हि) निश्चय (अभ्युपगमात्) अभिमत होने से ॥

यदि कहो कि चन्दन तो प्रत्यक्ष देह के एक देश (ललाटादि) में लगा दीखता है, जीवात्मा तो देह के विशेष देश में अवस्थित नहीं पाया जाता, तो उत्तर यह है कि जीवात्मा भी देह के एक देश (हृदय) में अवस्थित है । यह बात मानी हुई है । जैसा कि—

१—हृदि ह्येष आत्मा ॥ प्रश्नोपनिषद् ३ । ६ तथा—

२—स वा एष आत्मा हृदि ॥ छान्दो० ८ । ३ । ३ तथा—

३—हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ॥ बृहदारण्यक० ४ । ३ । ७

इत्यादि शास्त्र में यह अभ्युपगम (माना हुआ सिद्धान्त) है कि आत्मा हृदय में अवस्थित है ॥ २४ ॥

२४१—गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(वा) अथवा (गुणात्) गुण से (लोकवत्) लोक के समान है ॥

चन्दन के दृष्टान्त में यह संदेह हो सकता है कि चन्दन का सूक्ष्मांश एक देश से देह के अन्य देशों में फैल जाता होगा, आत्मा का तो इस प्रकार का कोई सूक्ष्म अंश नहीं, जो अन्यत्र फैल सके । इस कारण यह दूसरा हेतु देते हैं कि जैसे लोक में एक देशस्थ मणि वा दीपकादि का गुण प्रकाश जितने बड़े वा छोटे स्थान में मणि वा दीपक रक्खा हो, उतने सब को वह एक देशस्थ ही मणि वा दीपकादि प्रकाशित कर देता है, इसी प्रकार जीवात्मा का गुण (चेतनता) भी एक देशस्थ हृदयस्थ जीवात्मा के आस पास समस्त देह में चेतना फैला देता है ॥ २५ ॥

यदि कहो कि दीपक इस प्रकार एक देशस्थ द्रव्य (दीपकादि) का गुण अपने गुणी (द्रव्य) से पृथक् कैसे वर्त्त सका है ? और इस के उत्तर में कहा जायगा कि दीपक की प्रभा (रौशनी) के समान गुणी से बाहर भी

गुण जाता है, तो हम यह कहेंगे कि प्रभा (रौशनी) गुण नहीं है, वह भी एक द्रव्य है। दीपक गहरे प्रकाश वाला द्रव्य है तो प्रभा पतले प्रकाश वाला द्रव्य है, बस गुण अपने गुणी द्रव्य से पृथक् नहीं रह सक्ता। दीपक भी द्रव्य है, प्रभा भी द्रव्यान्तर है। इस लिये २५ वें सूत्र का हेतु संगत नहीं होता, तो उत्तर—

२४२—व्यतिरेकोगन्धवत् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(गन्धवत्) गन्ध गुण के समान (व्यतिरेकः) गुण का गुणी द्रव्य से पृथक् पाया जाना संभव है॥

जैसे पुष्प द्रव्य का गन्ध गुण पुष्प से कुछ दूर तक भी प्रतीत होता है, वैसे जीवात्मा चेतन का गुण चेतनत्व भी देह के सब अवयवों तक पाया जाता है। तब दीपक और प्रभा दोनों को द्रव्य मानने वालों को पुष्प और गन्ध,ये दो द्रव्य तो माननीय नहीं होंगे। अतः गुण से गुणी का व्यतिरेक (भिन्न देशवर्त्तित्व) सिद्ध है, तथा च जीव का भी चेतनत्व जीव से (जो हृदय में रहता है) भिन्नदेशवर्त्ती होना मान सक्ते हैं॥ २६ ॥

२४३—तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

पदार्थः—(च) और (तथा) ऐसा (दर्शयति) शास्त्र दिखलाता है॥

आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः॥ छान्दो० ॥ ८। ८। १ इत्यादि शास्त्र दिखलाता है कि जीव की चेतना रोमों तक और नखाग्रों तक है॥२७॥ तथा—

२४४—पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

पदार्थः—(पृथक्) पृथक् (उपदेशात्) उपदेश से ॥

प्रज्ञया शरीरं समारुह्य ॥ कौषीतकी उपनिषद् ३। ६ इत्यादि में उपदेश है कि आत्मा अपनी प्रज्ञा=चेतना से शरीर पर सवार (आरूढ) हो कर वर्त्तमान है। तथा—

तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय ॥ बृहदा० २। १। १७ ॥

इन प्राणों के विज्ञान से विज्ञान को लेकर। इस से पाया जाता है कि चेतन आत्मा से पृथक् भी चेतना पायी जाती है। इस कारण जीवात्मा अणु=एकदेशीय है और उस की चेतना सर्वदेहव्यापिनी है ॥२८॥

२४५—तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

पदार्थः—(तु) परन्तु (तद्गुणसारत्वात्) उस के गुणों का बल होने

से (तद्व्यपदेशः) उस नाम से कथन है (प्राज्ञवत्) प्राज्ञ शब्द के समान ॥

जैसे प्राज्ञ शब्द जीवात्मा का नाम है, परन्तु चेतनत्व साधर्म्य के बल से परमात्मा का नाम भी प्राज्ञ कहा जाता है, इसी प्रकार जीवात्मा के विज्ञान का अर्थों से संबन्ध कराने वाला होने से मन बुद्धि आदि अन्तःकरण भी चेतनायुक्त कहा जाता है ॥

अर्थात् मनः सम्बन्ध से जीवात्मा को सर्वशरीरगत वेदना होती है। आत्मा मन से, मन इन्द्रियों से, इन्द्रियें विषयों से सम्बन्ध करते हैं और इस परम्परा से आत्मा (जीव) को बाह्याभ्यान्तरस्थ विषयों का ज्ञान होता है, विभु होने से नहीं ॥ २९ ॥

२४६–यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पदार्थः-(यावदात्मभावित्वात्) आत्मापर्यन्त रहने वाला होने से (च) भी (दोषः) दोष (न) नहीं। क्योंकि (तद्दर्शनात्) उस के देखे जाने से ॥

हम देखते हैं कि मन का सम्बन्ध आत्मा पर्यन्त है, इस कारण आत्मा के विभु न होने पर भी मन और इन्द्रियों द्वारा सर्व शरीरगत सुख दुःख का अनुभव हो सकने में कोई दोष नहीं आता ॥ ३० ॥

प्रश्न सुषुप्ति में तो मन का आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहता? इस का क्या कारण है? उत्तर–

२४७–पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

पदार्थः–(पुंस्त्वादिवत् तु अस्य) पुरुषत्वादि के समान तो इस (सतः) सद्रूप की (अभिव्यक्तियोगात्) प्रकटता का योग होने से ॥

बाल्यावस्था में कामचेष्टादि पुरुषत्व की प्रतीति नहीं होती, तथापि मानना पड़ेगा कि बीजरूप से अनभिव्यक्त पुरुषत्व बाल्यावस्था में भी था, उसी को युवाऽवस्था में अभिव्यक्ति का लाभ हुवा। ऐसा नहीं होता तो जन्म के नपुंसक भी युवावस्था में पुरुषत्व लाभ करते, परन्तु जिन में बाल्यावस्था से पुरुषत्व का बीज नहीं, वे युवावस्था में भी स्पष्ट नपुंसक रहते हैं। इसी प्रकार सुषुप्ति से जागते ही आत्मा को मनः संयोग प्रतीत होने लगता है, इस से जाना जाता है कि सुषुप्ति में भी आत्मा के साथ मनः संयोग छिपा हुवा रहता है ॥ ३१ ॥

२४८–नित्योपलब्ध्यऽनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतर नियमोवाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

पदार्थः–(वा) अथवा (अन्यथा) ऐसा न होता=आत्मा विभु होता तो (नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः) नित्य उपलब्धि वा नित्यअनुपलब्धि की प्राप्ति होती, और (अन्यतरनियमः) इन दोनों में से एक का नियम अवश्य होता ॥

आत्मा विभु होता तो दो बातों में से एक बात अवश्य नियम से पाई जाती। १–या तो सदा विषयों की उपलब्धि ही हुवा करती,क्योंकि आत्मा का संयोग सदा सब से बना रहता । २–अथवा कभी विषय की उपलब्धि न हुवा करती, यदि उपलब्धि करना आत्मा में नियमितरूप से न होता। इस से पाया गया कि आत्मा अणु है,विभु नहीं। विभु होता तो या तो विषय सदा उपलब्ध होते, क्या समीप के और क्या दूर के, अथवा कभी उपलब्ध न होते ॥ ३२ ॥

२४९–कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

पदार्थः–(शास्त्रार्थवत्त्वात्) शास्त्र के सार्थक होने से (कर्त्ता) जीव कर्त्ता है ॥

शास्त्र में जीव के कर्मों का उपदेश है। यथा–यज्ञ करे, दान करे, असत्य न बोले इत्यादि। इस कारण जीवात्मा कर्त्ता है । यदि स्वतन्त्र कर्त्ता न होता तो शास्त्र में कर्मों का विधि निषेध न होता ॥ ३३ ॥

२५०–विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

पदार्थः–(विहारोपदेशात्) विहार के उपदेश से ॥

सईयतेऽमृतोयथाकामम् ॥ बृह० ४ । ३ । १२ इत्यादि शास्त्र में अमर जीवात्मा का यथेष्ट विचरना कहा है । इस से भी जीवात्मा का स्वतन्त्र कर्त्ता होना पाया जाता है ॥ ३४ ॥ तथा—

२५१–उपादानात् ॥ ३५ ॥

पदार्थः–(उपादानात्) ग्रहण करने से ॥

जीवात्मा पदार्थों का ग्रहण करता है । जैसा कि–प्राणान्गृहीत्वा ॥ बृह० २ । १ । १८ इस में प्राणों का ग्रहण जीवात्मा करता है। ऐसा कहा है। इस से भी कर्तृत्व पाया जाता है ॥ ३५ ॥

२५२—व्यपदेशाच्च क्रियायां, न चेन्निर्देशविपर्ययः॥३६॥

पदार्थः—(क्रियायां) लौकिक वैदिककर्म में (व्यपदेशात्) कथन से (च) भी । (न चेत्) नहीं तो (निर्देशविपर्ययः) बताना व्यर्थ होगा ॥

यदि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र कर्ता न हो तो उस को कोई विधि निषेध शास्त्र में न होने चाहियें, परन्तु शास्त्र में—अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व । इत्यादि विधि निषेध हैं, कि जुवा मत खेल, खेती अवश्य कर। जुवा खेलने का निषेध, खेती करने का विधान, इस बात का प्रमाण है कि वेद जीवात्मा को स्वतन्त्रता से कर्म करने वाला=कर्ता मानता है, तभी तो उस को विधि निषेध करता है ॥ ३६ ॥

यदि कहो कि स्वतन्त्र कर्ता है, तो जीवात्मा अपने लिये दुःखदायक कर्म क्यों करता है, सदा अनुकूल ही करे, इस का उत्तर—

२५३—उपलब्धिवदऽनियमः ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(उपलब्धिवत्) पाने के समान (अनियमः) यह भी नियम नहीं है।

यह नियम नहीं हो सकता कि सदा जीवात्मा अपने लिये सुखदायक ही कर्म करे, और विपरीत न करे । जैसे उपलब्धि=पदार्थों के जानने वा पाने में जीवात्मा को नियम नहीं कि अनुकूल को अवश्य ही पावे, वैसे कर्म करने में भी यह नियम नहीं कि सदा अनुकूल ही करे ॥३७॥ क्योंकि—

२५४—शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(शक्तिविपर्ययात्) शक्ति के विपरीत होने से ॥

जीवात्मा में सर्वशक्तिमत्ता नहीं कि अनुकूल सब कुछ कर ही ले, तथा विपरीत को कभी न करे । बस अपने अनुकूल सारे काम न कर पाने का कारण अल्पशक्तिमान् होना है, न कि अस्वतन्त्रता वा अकर्तृत्व ॥ ३८ ॥

२५५—समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(समाध्यभावात्) समाधान न होने से ॥

शक्ति की न्यूनता से सदा चित्त का समाधान नहीं रहता, इस से भी अहित कर्म कर बैठता है ॥ ३९ ॥

यदि कहो कि जीवात्मा कर्ता है तो कभी कर्म का त्याग न करेगा, फिर कभी मुक्ति न होगी । तो उत्तर—

२५६—यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

पदार्थः—(च) और (यथा) जैसे (तक्षा) बढ़ई (उभयथा) दोनों प्रकार का पाया जाता है ॥

इसी प्रकार जीवात्मा भी दोनों अवस्था में रहता है—जब देहेन्द्रिय साधनों से काम करता है, तब उस के फल भोगता है, परन्तु जब अन्तःकरण बहिःकरणों को छोड़ देता है, तब कुछ नहीं करता, और मुक्ति का आनन्द अनुभव करता है। जैसे बढ़ई जब बिसोला आदि हथियारों से काम करता है,तब उन के प्रभाव से सुख दुःख भोगता है परन्तु जब अकेला सब हथियार पृथक् रख कर विश्राम लेता है, तब कुछ नहीं ॥ ४० ॥

प्रश्न—जीवात्मा स्वतन्त्र कर्त्ता है तो फिर दुःखभोग क्यों करे, स्वतन्त्रता से दुःखभोग को त्याग क्यों न दे ? उत्तर—

२५७—परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(परात्) परमेश्वर से (तु) तो [स्वतन्त्र नहीं] (तच्छ्रुतेः) उस की श्रुति से ॥

इष्ट अनिष्ट फलभोग में परमेश्वराधीन है,क्योंकि श्रुति ऐसा कहती है:—

योभूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । इत्यादि

श्रुतियों में परमेश्वर को सब पर अधिष्ठाता बताया है, बस उसी के आधीन होने से इष्ट अनिष्ट सब भोगने पड़ते हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—परमेश्वर अधिष्ठाता है तो वही स्वतन्त्र रहा,चाहे जिस को चाहे जो फल देवे ? उत्तर—नहीं, क्योंकि—

२५८—कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

पदार्थः—(विहित—दिभ्यः) विधि निषेध के व्यर्थ न होने आदि हेतुओं से (कृतप्रयत्नापेक्षः) जीवात्मा अपने किये प्रयत्नों=कर्मों की अपेक्षावान् (तु) तो है ॥

जीवात्मा यद्यपि परमेश्वर की अधीनतावश फलभोग में परवश है, तो भी अपने किये कर्मों की अपेक्षा रखता है। अकारण ही परमेश्वर उस को अन्धाधन्ध फल नहीं भोगवाता ॥ ४२ ॥

२५९—अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयतएके ॥४३॥

पदार्थः—(नानाव्यपदेशात्) अनेक होने के कथन से (अंशः) जीवात्मा एकदेशीय है, (अन्यथा च अपि) अन्य कारणों से भी। क्योंकि (एके) कोई लोग (दाशकितवादित्वं) दास और कितवादि होने को (अधीयते) पढ़ते हैं॥

यहां शङ्करभाष्य जीवात्मा को ब्रह्म का अंश बताता है, परन्तु सूत्र में ऐसा नहीं कहा कि "ब्रह्म का अंश" है और शङ्करभाष्य में भी निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश न होने के कारण से यह कहना पड़ा है कि—

अंश इवांशो, न हि निरवयवस्य मुख्योंशः संभवति॥

अंश तो निरवयव का हो नहीं सक्ता, तब अंश का अर्थ="अंश सा" करना चाहिये। हम कहते हैं कि जब सूत्र में "ब्रह्म का अंश" कहा ही नहीं तब इतना जोड़ा ही क्यों जावे कि "ब्रह्म का"। अंश शब्द से अंशी की अपेक्षा भी होती है तो अपेक्षाकृत अंशत्व मान लेना चाहिये। महत् ब्रह्म की अपेक्षा जीवात्मा की सत्ता एक अंश है। पर है पृथक् स्वतन्त्र सत्ता। क्योंकि जीवात्मा अनेक=नाना कहे गये हैं, तब विभु हो नहीं सक्ते॥

कुछ लोग इस जीवात्मा के दासत्व और कितवादित्व का पाठ करते हैं, इस कारण भी जीवात्मा विभु नहीं हो सक्ते क्योंकि विभु है तो सर्वान्तर्यामी हो, फिर दासता और छल कैसे करे॥४३॥

२६०—मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(मन्त्रवर्णात्) वेदमन्त्र के वर्ण से (च) भी [जीवात्मा की अनेक संख्या और इस से एकदेशीयता सिद्ध है, विभुता नहीं। यथा—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि। (यजुः ३१। ४)

इस परमात्मा के एक पाद के बराबर सब प्राणी हैं। इस से पाया गया कि भूतानि=बहुवचन से जीवात्मा बहुसंख्यक हैं, अंश=अणुस्वरूप हैं, विभु नहीं। अन्य मन्त्र भी बहुत से हैं, जो जीवात्माओं की संख्याबहुत्व के परिचायक हैं। संध्या में जिन मन्त्रों का पाठ नित्य करते हैं, उन ही में देखिये कि जीवात्मा के लिये कितने बहुवचन प्रयुक्त हैं—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

इस में वयम्=हम सब, पश्यन्तः=देखते हुये, आगच्छाम=पाते हैं। ये सब नाम=संज्ञा और आख्यात=क्रियापद अपने बहुवचन से जीवात्माओं का बहुत होना सूचित करते हैं] ॥४४॥ तथा–

२६१–अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

पदार्थः–(च)-और (स्मर्यते) स्मृतिवचन से (अपि) भी यही पाया जाता है॥

मनुस्मृति १२। ११९ में लिखा है कि–"आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्" इत्यादि वचनों में जीवात्माओं का असंख्य स्थानों में बहुत्व पाया जाता है, इससे भी उन की एकदेशीयता पाई जाती है और स्पष्ट 'शरीरिणाम्' इस बहुवचन से शरीर=जीवात्माओं का बहुसंख्यक होना कहा है॥४५॥

२६२–प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

पदार्थः–(परः) परमात्मा (एवं) इस प्रकार का नहीं है। (प्रकाशादिवत्) प्रकाशादि के समान॥

जैसे प्रकाश निर्लेप है, वैसे परमात्मा भी सदा निर्लेप है और जीवात्माओं के समान शारीरक बन्धन में नहीं आता॥ ४६॥

२६३–स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

पदार्थः–(च) और (स्मरन्ति) ऋषि मुनि लोग स्मरण भी करते हैं कि जीवात्मा भोगी और परमात्मा भोगरहित है। यथा–

१–तत्र यः परमात्मा हि स नित्योनिर्गुणः स्मृतः ॥
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १ ॥
कर्मात्मात्वऽपरोयोऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥
स सप्तदशकेनाऽपि राशिना युज्यते पुनः ॥२॥ शङ्करभाष्ये

अर्थः–उन में जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण कहा है, और फलों में लिप्त नहीं होता, जैसे पानी में होता कमलपत्र भी पानी से नहीं भीगता ॥१॥ परन्तु दूसरा आत्मा जो कर्मात्मा=जीवात्मा है, वह कर्मकृत बन्धन और मुक्ति दोनों को पाता है, और [मुक्ति के पश्चात् भी] पुनः १७ तत्त्व के लिङ्ग शरीर से युक्त होता है ॥२॥

उपनिषदें भी उस को इसी प्रकार कहती हैं, यह 'च' शब्द का प्रयोजन है। यथा—

२-तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

श्वेताश्व० ४ । ६

अर्थः—उन दोनों आत्माओं में एक फल भोगता है, दूसरा न भोगता हुवा केवल साक्षी रहता है ॥

३-एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

कठ० ५ । ११

अर्थः—एक सर्वभूतान्तरात्मा (परमात्मा) लोक के दुःख से दुःखी नहीं होता । इत्यादि ॥ ४७ ॥

२६४—अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

पदार्थः—(अनुज्ञापरिहारौ) ग्रहण और त्याग (देहसम्बन्धात्) देह के सम्बन्ध से हैं, (ज्योतिरादिवत्) ज्योतिः आदि के समान ॥

कोई जीवात्मा निकृष्ट देह में रहता हुवा, बचने योग्य होता है, दूसरा उत्तम शरीर में समीप जाने योग्य है, यह बात केवल देह के सम्बन्ध से है। जैसे ज्योतिः=प्रकाश स्वयं स्वच्छ है, परन्तु स्वच्छ स्थान का प्रकाश ग्राह्य और मलिन स्थान का प्रकाश भी त्याज्य है ॥ ४८ ॥

२६५—असन्ततेश्चाऽव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(असन्ततेः) एक आत्मा का फैलाव अन्य देहों तक न होने से (अव्यतिकरः) एक के कर्म दूसरे को न लगना (च) भी है ॥

इस में स्पष्ट "असन्ततेः" इस हेतु से आत्मा का विभु=व्यापक न होना व्यास जी ने कह दिया है ॥ ४९ ॥

प्रश्नः—यदि जीवात्मा में फैलाव नहीं तो देह भर में चेतना क्यों पाई जाती है ?

उत्तर—

२६६—आभासएव च ॥ ५० ॥

पदार्थः—(आभासः) प्रकाश (एव) मात्र (च) ही है ॥

देह भर में जीवात्मा स्वरूप से वर्त्तमान नहीं, किन्तु उस का आभासमात्र ही है ॥

२६७—अदृष्टाऽनियमात् ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(अदृष्टाऽनियमात्) अदृष्ट का नियम न रहने से—

भी आत्मा को एक ही मान कर सर्वत्र फैलाव मानने से यह दोष रहेगा कि एक का प्रारब्ध दूसरे से भिन्न नियमित न रह सकेगा ॥ ५१ ॥

प्रश्नः—यदि ऐसा माना जावे कि आत्मा तो बहुत हैं, परन्तु सभी सर्वत्र विभु हैं, एक आत्मा में अनन्त आत्मा व्यापे हैं, तब एक आत्मा का प्रारब्ध कर्म दूसरे से भिन्न रह सकता है, इस में क्या दोष है ? उत्तर—

२६८—अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(अभिसंध्यादिषु) एक का दूसरे में सर्वत्र समवाय है, इत्यादि पक्षों में (अपि) भी (एवम्) ऐसा (च) ही है ॥

प्रारब्ध कर्म और उस के फल का संयोग ऐसे पक्षों में भी रहेगा, क्यों कि सभी आत्मा प्रत्येक के मन इन्द्रियादि से समीपता और एक सी समीपता रखते हैं, तब एक मन इन्द्रियादि द्वारा किया कर्म संनिधान से सब को क्यों न लगेगा ? ॥ ५२ ॥

२६९—प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (प्रदेशात्) एक देहस्थ आत्मा के प्रदेश=सिरे वा कोने वा छोर वा भाग से । (न) सो भी नहीं, क्योंकि (अन्तर्भावात्) एक का दूसरे के अन्तर्गत होने से ॥

सब आत्मा अन्य आत्माओं के अन्तर्गत विभु होंगे, तब एक आत्मा का कोई प्रदेश विशेष भी नहीं हो सकता, सब के सभी प्रदेश होंगे, तब भी प्रारब्धकर्मफलव्यवस्था न होगी ॥ ५३ ॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयाऽध्यायस्य

चतुर्थः पादः

तृतीय पाद में "२१७—न वियदश्रुतेः" २ । ३ । १ इत्यादि से आरम्भ करके आकाशादिविषयक श्रुतियों का विरोध हटाया गया। अब चतुर्थ पाद में प्राणादिविषयक विरोध का परिहार करते हैं:—

किमिन्द्रियाण्यनादीति सृज्यन्ते वा परात्मना ।
सृष्टेः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥ १ ॥
एकबुद्ध्या सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः ।
उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागऽवान्तरसृष्टितः ॥ २ ॥

(शाङ्करभाष्यकारिका)

प्रश्नः—इन्द्रियां क्या अनादि हैं ? वा परमात्मा से रची जाती हैं ? सृष्टि से पूर्व इन का 'ऋषि' नाम से होना कहने से अनादिता है ॥ १ ॥

उत्तर—एक बुद्धि से सब बुद्धि के भौतिक होने से, श्रुति में उत्पत्ति सुनने से (इन्द्रियां) उत्पन्न होने वाली हैं और (सृष्टि से) पूर्व उन का होना अवान्तर सृष्टि=बीच के अवान्तर प्रलयों के पश्चात् जो सृष्टि होती है, उन को विचार कर कहा समझो ॥ २ ॥

२७०—तथा प्राणाः ॥ १ ॥

पदार्थः (तथा) इसी प्रकार (प्राणाः) प्राण भी हैं ॥

यह तथा शब्द पूर्व पादारम्भ के "न वियदश्रुतेः" और "अस्ति तु" इन सूत्रों से संबद्ध है। जिस प्रकार आकाश उत्पत्तिमान् पदार्थ है, इसी प्रकार प्राण और तदुपलक्षित इन्द्रियां भी उत्पत्तिमान् पदार्थ हैं। यथा—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ मुण्ड० २।१।३
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् ॥ मुण्डकोपनिषद् २।१।८
स प्राण मसृजत—इन्द्रियं मनोऽन्नम् ॥ प्रश्नो० ६।४।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राण और इन्द्रियें उत्पत्ति वाले हैं ॥१॥

प्रश्नः—यदि प्राण उत्पत्ति वाले हैं तो जहां—

असद्वा इदमग्र आसीत् (तैत्तिरीय २ । ७)

कहा है कि यह जगत् प्रथम 'असत्' था । फिर प्रश्न किया है कि असत् क्या वस्तु था ?

तदाहुः किं तदऽसदासीत् ॥

फिर उत्तर दिया है कि—

ऋषयोवाव तेऽग्रेऽसदासीत् ॥

अर्थात् जो प्रथम असत् था, वह ऋषि अर्थात् इन्द्रियें थीं ॥ तब तो उत्पत्ति से पूर्व इन्द्रियों की सत्ता होने से इन्द्रियां तथा उनके साथ प्राण भी उत्पत्तिरहित जान पड़ते हैं ? उत्तर—

२७१—गौण्यऽसंभवात् ॥ २ ॥

पदार्थः—(असंभवात्) असंभव होने से (गौणी) इन्द्रियों की उत्पत्ति से पूर्व बताने वाली श्रुति गौणी है ॥

अर्थात् उस श्रुति का तात्पर्य गौण=अन्य है । उस का तात्पर्य अवान्तर प्रलय में उत्पत्ति से पूर्व प्राणादि का बना रहना समझो, वा जीवात्मा में जो चेतना=जीवन अनादि है, उसी अप्राकृत जीवन का नाम ऋषि=प्राण जानना चाहिये, क्योंकि विकार मात्र अनादि होना संभव नहीं ॥ २ ॥

२७२—तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तत्प्राक्श्रुतेः) उस से पहले श्रुति से (च) भी ॥

स प्राणमसृजत । इत्यादि श्रुतियें उस से पूर्व प्राणादि को उत्पत्तिमान् बता चुकी हैं ॥ ३ ॥ तथा—

२७३—तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(वाचः) वाणी के (तत्पूर्वकत्वात्) प्राणपूर्वक होने से ॥

वाणी भी अनादि नहीं, किन्तु उत्पत्ति वाली है । यथा—

अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् ॥ छान्दो० ६ । ५ । ४ ॥ अन्न का विकार मन, जल का विकार प्राण और अग्नि का विकार वाणी है । सो वाणी भी उत्पत्ति वाली है, क्योंकि विकार रूप है ॥४॥

२७४—सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

पदार्थः—(गतेः) गति से (च) और (विशेषितत्वात्) विशेषित होने से (सप्त) सात हैं ॥

यहां विचार यह करना है कि प्राणों की संख्या कितनी है । संख्या में सन्देह इस कारण होता है कि वह कहीं कितने और कहीं कितने बताये गये हैं । यथा—

१—सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् ॥ मुण्ड० २ । १ । ८

२—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ बृह० ३ । २ । १

३—सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा, द्वाववाञ्चौ ॥ तै० सं० ५।१। ७।१

४—नव वै पुरुषे प्राणा, नाभिर्दशमी ॥ (शां० भा०)

५—दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः ॥ बृ० ३ । ९ । ४

६—सर्वेषां प्राणानां त्वगेकायतनम् ॥ बृह० २ । ४ । ११

७—चक्षुश्च द्रष्टव्यं च ॥ बृह० ४ । ८ (इत्यादौ)

इन स्थलों में क्रमशः १ में ७ । २ में ८ । ३ में ९ । ४ में १० । ५ में ११ । ६ में १२ । ७ में १३ प्राण कहे हैं, तब ठीक संख्या प्राणों की क्या समझनी चाहिये । इस सूत्र में उत्तर दिया है कि दो कारणों से प्राणों की संख्या ७ है १—कारण यह कि ७ प्राणों में गति पाई जाती है, २—कारण यह है कि तीसरे प्रमाण में प्राणों का विशेषण "शीर्षण्याः" दिया गया है, फिर "सप्त" शब्द से ७ बताये गये हैं ॥ ५ ॥

आगे इस पर विकल्प उठाते हैं कि:—

२७५—हस्तादयस्तु स्थितेऽतोनैवम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(हस्तादयः) हाथ आदि (तु) भी हैं (स्थिते) इस दशा में (अतः) इस कारण (एवम्) ऐसा (न) नहीं है ॥

जब कि हस्त पाद आदि इन्द्रियां भी हैं जो प्राण से संचालित होकर प्राण का काम करती हैं, तब इस दशा में ऐसा नहीं है कि सात ही प्राण गिने जावें, किन्तु दश इन्द्रियें और ११ वां मन गिनकर ११ प्राण समझने चाहियें । अथवा "दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः" बृह० ३ । ९ । ४ के

अनुसार भी ११ प्राण हैं, सात नहीं। इस प्रकार ७ प्राणों का प्रतिवाद करके ११ का खण्डन इस उत्तर सूत्र में किया गया है ॥ ६ ॥

२७६—अणवश्च ॥ ७ ॥

पदार्थः—(च) और (अणवः) प्राण वा इन्द्रियें अणु=परिच्छिन्न हैं ॥

प्राण वा इन्द्रियें जो ११ ही सही, परन्तु अणु हैं वा विभु ? इस प्रश्न का उत्तर देने को इस सूत्र का आरम्भ है। दृष्टि से यद्यपि प्राण वा इन्द्रियें देहभर में प्रसरित जान पड़ती हैं, परन्तु वे विभु नहीं हैं, क्योंकि विभु होतीं तो प्राणों का उत्क्रमण (एक देह से निकलना) न बनता। इस लिये उन को विभु न मानकर सूत्रकार अणु बताते हैं। अणु कहने से भी सूत्रकार का आशय उन को परमाणु के बराबर बताना नहीं है, किन्तु सूक्ष्म परन्तु सर्वव्यापक नहीं हैं, यही तात्पर्य है ॥ ७ ॥

२७७—श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

पदार्थः—(च) और (श्रेष्ठः) मुख्य भी है ॥

प्राण गौणरूप से ११ हों, परन्तु उन सब में एक मुख्य प्राण भी है, और वह भी विभु नहीं, अणु है, जो सब अन्य प्राणों का प्रेरक और उस २ नाम से गौणरूप से पुकारा जाता है ॥ ८ ॥

२७८—न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(वायुक्रिये) वायु और क्रिया (न) प्राण नहीं हैं (पृथक् उपदेशात्) पृथक् उपदेश होने से ॥

एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योति रापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥
(मुं० २ । १ । ३)

इस में प्राण और वायु पृथक् २ बताये गये हैं; इस से वायु सामान्य का नाम प्राण नहीं ॥

इसी प्रकार वायु के धर्म उत्क्रमणादि कर्म=क्रिया भी प्राण से पृथक् उपदेश किये समझो ॥ ९ ॥

२७९—चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

पदार्थः—(तु) परन्तु (चक्षुरादिवत्) चक्षु आदि इन्द्रियों के समान मुख्य प्राण भी

स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि (तत्सहशिष्टयादिभ्यः) उसके साथ शेष कहा जाने आदि से॥

जहां चक्षु आदि को जीवात्मा से पृथक् शिष्टि=शेषकथन किया है, वहां प्राण को भी शेष कथन किया है, इस कारण मुख्य प्राण भी स्वतन्त्र चेतन वस्तु नहीं, जीवाधीन है। जिस प्रकार राजा से प्रजा पृथक् हैं, इसी प्रकार जीवात्मा राजा से इन्द्रियें उस की प्रजा रूप पृथक् हैं, और जिस प्रकार राजा से मन्त्री पृथक् होता है, इसी प्रकार राजा जीवात्मा से प्राण मन्त्री भी पृथक् वस्तु है॥ १०॥

२८०—अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥११॥

पदार्थः—(च) और (अकरणत्वात्) करण न होने से (दोषः) दोष (न) नहीं, (तथा हि) ऐसा ही (दर्शयति) शास्त्र दिखलाता है॥

प्राण का कोई विषय (रूप रस गन्धादि) नहीं है, क्यों कि इन्द्रियों का संचालक होने पर भी स्वयं साक्षात् करण (विषयग्रहणसाधन) नहीं है। इस कारण यह दोष नहीं आता कि प्राण स्वतन्त्र नहीं है, चक्षु आदि के समान परतन्त्र है, इस लिये जैसे चक्षु आदि के रूपादि विषय हैं, इसी प्रकार प्राण का भी कोई पृथक् विषय होना चाहिये क्योंकि प्राण स्वतन्त्र चेतन न होने पर भी चक्षुरादि के समान कोई करण नहीं है, करण नहीं, तब उस का कोई विशेष विषय होना आवश्यक नहीं। जैसा कि शास्त्र दिखलाता है—

यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव

दृश्यते, स वः श्रेष्ठः (५। १। ६, छान्दो०)

तुम में से जिस के निकलने पर शरीर अत्यन्त बुरा सा दीख पड़ता है, वह (प्राण) तुम में सब श्रेष्ठ है॥

इत्यादि वाक्यों से इन्द्रियों से श्रेष्ठ प्राण को बताकर समझाया है कि वह चक्षुरादि के अन्तर्गत करण नहीं है। कभी २ किसी प्राणी के मरते समय देखा जाता है कि इन्द्रियें मर चुकीं; देखना, सुनना, छूना, चखना, सूंघना; और चलना, पकड़ना, मूत्र करना, विष्ठा करना, बोलना; ये दशों इन्द्रियों के काम बन्द हो गये, परन्तु श्वास चलता है, जीवन शेष है। बस इस से स्पष्ट है कि इन्द्रियों के अतिरिक्त मुख्य प्राण मन्त्री, जीवात्मा राजा के साथ तब तक भी पाया जाता है जब कि इन्द्रियें मर चुकती हैं॥ ११॥

२८१—पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

पदार्थः-(मनोवत्) मन के समान (पञ्चवृत्तिः) ५ वृत्तियों वाला व्यपदिश्यते)कहा जाता है ॥

जैसे ५ ज्ञानेन्द्रियवृत्तियां मन की हैं ऐसे ही प्राण अपान उदान समान और व्यान नामक ५ वृत्तियें प्राण की हैं ॥१२॥

२८२—अणुश्च ॥१३॥

पदार्थः (च) और (अणुः) अणु है ॥

प्राण (मुख्य प्राण) भी अणु=सूक्ष्म तथा देहपरिच्छिन्न है ॥१३॥

२८३—ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

पदार्थः (ज्योतिराद्यधिष्ठानं) ज्योति आदि का अधिष्ठान (तु) तौ (तदामननात्) उस ज्योति आदि के आगमन से है ॥

प्राण मन इन्द्रियों को अग्नि आदि अधिष्ठातृ देवों का अधिष्ठान तौ इस कारण कहा है कि अग्नि आदि अधिष्ठातृ देव मुखादि में आकर प्रवेश करते हैं । यथा—

१—अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ॥ ऐत० २ । ४

अग्नि देवता वाणी बन कर मुख में घुसी ॥

२—वायुःप्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत् ॥ ऐत० २ । ४

वायु देवता प्राण बनकर नासिकाछिद्रों में घुसी । इत्यादि ॥ १४ ॥

२८४—प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

पदार्थः-(प्राणवता) प्राणों वाले जीवात्मा से हैं (शब्दात्)शब्द प्रमाण से॥

योवेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्॥छां०८।१२।४

जो जानता है कि इस को सूंघूं, वह आत्मा है,घ्राणेन्द्रिय तौ गन्धग्रहण के लिये करणमात्र है । इस से जाना गया कि अग्नि आदि अधिष्ठातृदेव भी प्राणादि के स्वतन्त्र स्वामी वा भोक्ता नहीं,केवल आत्मा भोक्ता है॥१५॥क्योंकि—

२८५—तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(तस्य) उस जीवात्मा के (च) ही (नित्यत्वात्) नित्य होने से॥

अग्नि आदि देवता, वागादि इन्द्रियां और मन प्राण आदि कोई नित्य नहीं, बस ये कर्म करने में स्वतन्त्र होते तौ कर्म करके ये सब नश्वर होने से फलभोगार्थ शेष न रहते,इस लिये अनश्वर नित्य जीवात्मा ही भोक्ता है१६

२८६—न इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

पदार्थः—(श्रेष्ठात्) मुख्य प्राण से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में (तद्व्यपदेशात्) उन इन्द्रियों का कथन होने से (ते) वे चक्षुरादि (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां हैं ॥

श्रुति में प्राण से पृथक् इन्द्रियां बताई हैं, अतएव इन्द्रियां मुख्यप्राण का स्वरूप नहीं, भिन्न हैं, जैसा कि पूर्व कह आये हैं कि—

एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥

(मुण्डकोपनिषद् २।१।३)

उस से प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। इत्यादि ॥१७॥ क्योंकि—

२८७—भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(भेदश्रुतेः) भेद के श्रवण से ॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः ॥ (बृ० १।३।२)

इत्यादि में प्राण से इन्द्रियों का भेद कहा है ॥१८॥ तथा—

२८८—वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

पदार्थः—(वैलक्षण्यात्) विलक्षणता से (च) भी ॥

श्रुति में भेद है, इतना ही नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष में भी प्राण इन्द्रियों से विलक्षण है। अन्धे मनुष्य को आंख नहीं, पर प्राण है। बहिरे को कान नहीं, पर प्राण है। इत्यादि ॥१९॥

२८९—संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वतउपदेशात् ॥ २० ॥

पदार्थः—(संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः) संज्ञा और मूर्त्ति की रचना (तु) तौ (त्रिवृत्कुर्वतः) त्रिवृत् करने वाले की है। (उपदेशात्) उपदेश से ॥

प्रश्न यह उठता था कि यदि प्राण स्वतन्त्र कर्मों का वा इन्द्रियों का अधिष्ठाता नहीं, जीवात्मा है, तौ क्या नाम रूप का कर्त्ता भी जीवात्मा ही है? उत्तर—नहीं। किन्तु संज्ञा=नाम और मूर्त्ति=रूप की रचना करनेवाला तौ परमात्मा है, क्योंकि शास्त्र में उपदेश है कि परमेश्वर ही त्रिवृत् का कर्त्ता है। त्रिवृत्=तेज अप अन्न को परमेश्वर ने बनाया है, उसी ने उन के नाम और रूप भी बनाये हैं। यथा—

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति । तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति ॥ छान्दो० ६।३।२

अर्थ—सो इस देवता (परमात्मा) ने देखा कि हां, मैं इन तीन देवतों (तेज अप् अन्न) को इस जीव के साथ अनुप्रवेश करके नाम और रूप को प्रकट करूं और कि उन (तीनों) में से प्रत्येक को तीन तीन लड़ों का करूं ॥

इस में जीव के साथ अनुप्रवेश का उपदेश तो है, परन्तु "प्रकट करूं" इस क्रिया का कर्त्ता साक्षात् परमात्मा ही है। हां, प्रवेश तो दोनों का है, जीवात्मा का प्रवेश और परमात्मा का अनुप्रवेश, परन्तु नाम रूप का कर्त्ता परमात्मा ही है। यद्यपि लोक में देवदत्तादि नामों और कुम्भ शरावादि रूपों का कर्त्ता जीवात्मा है, परन्तु सृष्टि के आरम्भ में सूर्य चन्द्रादि मनुष्य पशु पक्ष्यादि जातिवाचक संज्ञाओं और इन के आकारों=रूपों=मूर्तियों को परमात्मा ने ही बनाया, अतः कर्त्ता वही है ॥ २० ॥

प्रश्नः—त्रिवृत् अर्थात् तेज अप् अन्न की प्रत्येक की तीन तीन लड़ें=९ लड़ी कौन सी हैं। उत्तर—

२९०—मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

पदार्थः—(भौमं) भूमिसंबन्धी (मांसादि) मांस, पुरीष=विष्ठा और मन है। (च) और (यथाशब्दम्) शब्दप्रमाणानुसार (इतरयोः) तेज और अप् दोनों के समझो ॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठोधातुस्तत् पुरीषं भवति, योमध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः ।
(छान्दो० ६।५।१)

भोजन किया अन्न तीन प्रकार से बनता है, उस (अन्न) का जो स्थूल धातु है, वह विष्ठा होती है; जो मध्यम है, वह मांस; और जो सूक्ष्म है वह मन ॥ इसी प्रकार—

तेज का स्थूल धातु अस्थि है, मध्यम मज्जा, और सूक्ष्म वाणी है। अप् का स्थूल धातु मूत्र, मध्यम रक्त, और सूक्ष्म प्राण है ॥

इस विषय में वैशेषिक का मत जो भिन्न जान पड़ता है, कि वह मन को नित्य मानते हैं, वह इस दृष्टि से है कि जिस प्रकार देह के अन्य धातु प्रतिशरीर नये बनते हैं, पुराना पूर्वजन्म का कुछ साथ नहीं आता, वैसा मन नहीं है, मन तो लिङ्ग शरीर के साथ रहने से पूर्व जन्म का भी लगा चला आता है, अतः उस को अपेक्षाकृत नित्य कहा समझो ॥

तथा सांख्य में जो वाणी और मन को अहंकार का कार्य बतलाया है, वह भी इस से विपरीत जान पड़ता है, सो भी इस अभिप्राय से कि अन्न खाकर वाणी और मन चलते हैं, इस लोकव्यवहार की दृष्टि से ठीक है ॥

यहां तो जल का सूक्ष्मांश प्राण को इस लिये कहा है कि पानी पीने से प्राण की स्थिति ठीक होती है । इस लिये इस लोकव्यवहार से यह व्यवस्था है । अन्यथा अन्नमय प्राण कहना तो ठीक है ही है, क्योंकि अन्न से तो प्राण का स्वरूप ही बनता है ॥ २१ ॥

प्रश्न—यदि अन्न से रक्त का भाग, और जल से मांस का भाग भी प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, तब मांस को केवल भौम और रक्त को केवल अप् का कार्य क्यों कहा गया ? उत्तर—

२९१—वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(तद्वादः) मांस को भौम और रक्त को आप्य कहना (तु) तो (वैशेष्यात्) विशेष होने से है । तद्वादः इस शब्द की पुनरुक्ति अध्याय समाप्तिसूचनार्थ है ॥

यद्यपि मांस में भूमि के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी हैं, तथा रक्त में जल के अतिरिक्त तथा अन्यों में भी अन्यों का-संसर्ग है, परन्तु उस २ में उस २ की विशेषमात्रा होने से तद्वादः=उस २ का वह २ कार्य कहाता है ॥ २२ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिकृते, वेदान्तदर्शनभाषानुवादयुतभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

॥ २ ॥

ओ३म्

अथ तृतीयाध्यायः

तत्र

प्रथमः पादः

प्रथम यह विचार चलाते हैं कि जीवात्मा एक देह से दूसरे देह को जाते समय पूर्व देह के कुछ अवयवों को साथ लेजाता है वा नहीं। इस पर शङ्करभाष्य के २ श्लोक नीचे लिखे अनुसार देखने योग्य हैं, जिन से पता चलेगा कि एकात्मवादी शङ्कराचार्य भी जीवात्मा का चलना मान कर कूटस्थ ब्रह्म का अंश उस को कैसे मान सकते हैं:—

अवेष्टितोऽवेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान्व्रजेत् ।
भूतानां सुलभत्वेन यात्यऽवेष्टित एव सः ॥ १ ॥
बीजानां दुर्लभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः ।
पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥२॥

अर्थ—जीवात्मा सूक्ष्म भूतों से लिपटा हुवा जावेगा वा विना लिपटा? भूतों के सुलभ होने से विना लिपटा ही वह जाता है ॥ १ ॥

शङ्का-बीजों की दुर्लभता से और निराधार इन्द्रियों की गति संभव नहीं होने से। तथा पञ्चम आहुति के युक्तहोने से (समाधान) जीवात्मा उन से लिपटा ही जाता है ॥ २ ॥

२९२-तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(प्रश्ननिरूपणाभ्याम्) प्रश्न और उस के निरूपण=उत्तर से (तदन्तरप्रतिपत्तौ) उस दूसरे देह की प्राप्ति के समय (संपरिष्वक्तः) लिपटा हुवा (रंहति) गमन करता है ॥

द्वितीयाध्याय में वेदान्तोक्त ब्रह्मदर्शन में अन्य शास्त्रों तथा न्याय का

विरोध हटाया गया, संगति करके दिखायी गई। विरुद्ध पक्षों का अनादर भी कहा गया। श्रुतियों के परस्पर विरोध की शङ्काओं का समाधान भी किया गया। और यह भी बतलाया गया कि जीवात्मा के अतिरिक्त जीव के अन्य उपकरण मन इन्द्रियां प्राण इत्यादि सब कुछ परमात्मा के रचे हैं, अनादि नित्य नहीं, यह भी बतलाया गया। अब आगे तृतीयाध्याय में यह बतलावेंगे कि मन आदि साधनों से ढके हुवे जीव की संसार में विचरने=देह से देहान्तर में जाने आने की रीति और बीच की अवस्थायें, गुणों का उपसंहार और अनुपसंहार, सम्यग्दर्शन से पुरुषार्थ की सिद्धि, सम्यग्दर्शन के उपाय और विधि का भेद और मुक्ति फल का अनियम, यह सब कहा जायगा। इस में से प्रथम पाद में पञ्चाग्निविद्या का आश्रय करके संसार की गति का भेद दिखलाया जायगा, जिस से वैराग्य उत्पन्न हो सके। क्योंकि अन्त में कहा गया है कि—

तज्जुगुप्सेत्

अर्थात् इस की निन्दा (इस से ग्लानि) करे। जीवात्मा का मन्त्री मुख्य प्राण है। वह इन्द्रियों सहित, मन सहित, अविद्या=अल्पज्ञता, कर्म, पूर्व बुद्धि का बांधा हुवा पूर्व देह से दूसरे देह को जाता है। यह बात शास्त्र में कही गई है, जहां कि बृह० ४। ४। १, ४ में—

अथैनमेते प्राणाअभिसमायन्ति ॥

यहां से लेकर

अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते ॥

यहां तक यह वर्णन है कि ये प्राण तब इस के साथ जाते हैं,......और अत्यन्त नवीन, अत्यन्त उत्तम रूप को बनाता है॥

पूर्व पक्ष यह होता है कि केवल जीव ही अकेला देह से देहान्तर को चला जाता है, अन्य कुछ नहीं। क्योंकि पञ्चभूतों का देहान्तर में नवीन मिल जाना दुर्लभ नहीं, फिर क्यों कल्पना करें कि पूर्व देह के तत्त्व भी उत्तर देह में साथ जाते हैं। इस के उत्तर में व्यास मुनि इस सूत्र द्वारा कहते हैं कि नहीं, जीवात्मा सूक्ष्म भूतों से लिपटा हुवा देहान्तर को प्राप्त होता है। क्योंकि इस प्रकरण के प्रश्नोत्तरों से जो छान्दोग्योपनिषद् में हैं, ऐसा ही पाया जाता है। प्रश्नः—

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसोभवन्ति ॥
(छान्दो० ५ । ३ । ३)

जानते हो कि जिस प्रकार अप् तत्त्व पांचवीं आहुति में पुरुषवाची होते हैं ? उत्तर में कहा गया है कि १ द्युलोक, २ मेघ, ३ पृथिवी, ४ पुरुष और ५ स्त्री योनि, इन पञ्चाग्नियों में १ श्रद्धा, २ सोम, ३ वर्षा, ४ अन्न और ५ वीर्य रूप ५ आहुतियों को दिखला कर कहा है कि पांचवीं आहुति में अप् पुरुषवाचक होते हैं । इस से पाया गया कि अप् तत्त्व से लिपटा हुवा जीव देहान्तर को प्राप्त होता है ॥

शङ्का—तद्यथा तृणजलायुका (बृह० ४ । ४ । ३) इत्यादि में तो तृण जलौका (कीड़े) की भांति जीव का देह से देहान्तर तक जाना कहा है, तब तो यही जान पड़ता है कि विना लिपटा हुवा ही जीव कर्मानुसार प्राप्तव्यदेह के विषयों की भावना रूप से सम्भायमान होकर दूसरे देह को प्राप्त हो जाता है । कर्मों के प्रभाव से दूसरी इन्द्रियां, दूसरा मन, दूसरे प्राण और दूसरा ही देह सब प्राप्त हो जाता है । केवल जीवात्मा ही देह से अन्य देह को ऐसे चला जाता है जैसे तोता पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को ?

उत्तर—ये सारी कल्पना श्रुति के विरोध से माननीय नहीं । तृणजलौका के दृष्टान्त में भी यह नहीं पाया जाता कि मन आदि साथ नहीं जाते ॥ १ ॥

प्रश्न—उदाहरण में जो प्रश्नोत्तर छान्दोग्य के दिखलाये, उन से तो केवल अप् तत्त्व का जीवात्मा के साथ जाना कहा है, फिर यह कैसे मान लें कि सब ही सूक्ष्मभूत साथ जाते हैं ? उत्तर—

२९३—त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

पदार्थः—(त्र्यात्मकत्वात्) एक अप् तत्त्व के त्र्यात्मक=तीन तत्त्व मिला होने से (तु) तो (भूयस्त्वात्) बहुतायत से ॥

प्रश्नोत्तर में चाहे एक अप् तत्त्व का ही जीवात्मा के साथ देहान्तर में जाना कहा है; परन्तु त्र्यात्मक होने से अप् तत्त्व के लपेट में बहुत से तत्त्वों का लिपटना समझना चाहिये ॥ २ ॥ और केवल अप् तत्त्व ही नहीं, अन्य भी—

२९४—प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

पदार्थः—(प्राणगतेः) प्राण की गति से (च) भी ॥

तमुत्क्रान्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं
सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ॥ (बृ० ४।४।२)

उस जीवात्मा के देह से निकलते समय प्राण भी साथ निकलता है, और मुख्य प्राण के साथ अन्य प्राण भी निकलते और जीवात्मा के साथ जाते हैं। इस से पाया जाता है कि जीवात्मा केवल एकला ही नहीं जाता है किन्तु लिङ्ग शरीर भी सूक्ष्म भूतांशों का साथ जाता है ॥ ३ ॥ परन्तु—

२९५—अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (अग्न्यादिगतिश्रुतेः) अग्न्यादि में गति श्रुति से है, तो (न) नहीं, क्योंकि (भाक्तत्वात्) गौणी होने से ॥

अस्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः ॥
(बृह० ३।२।१३) तथा—

सूर्यं चक्षुर्गच्छति वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं
च धर्मणा ··· ··· ··· ··· ··· इत्यादि ॥

प्रमाण श्रुति में हैं, जिन से पाया जाता है कि मरते प्राणी की वाणी अग्नि में लीन होती है, प्राण वायु में, चक्षु सूर्य में, मन वायु में, द्युलोक और पृथिवी में अपने २ धर्मानुसार सब तत्त्व मिल जाते हैं ॥

इस से तो यही समझ पड़ता है कि जीव के साथ कोई नहीं जाता, सब अपने २ अधिष्ठान में लीन होते हैं, तो उत्तर यह है कि नहीं, वे श्रुति गौणी हैं, जिन में ऐसा कहा है। उन का तात्पर्य मुख्यांश में होता तो जहां यह कहा है कि—

ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः (बृह० ३।२।१३)

अर्थात् लोम ओषधियों और केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं, भला लोमों और केशों को किस ने ओषधि वनस्पतियों में मिलते देखा है। किन्तु स्थूल तत्त्वों का अपने २ कारण में मिलना वहां तात्पर्य है, सूक्ष्मों का नहीं ॥ ४ ॥

२९६—प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (प्रथमे) प्रथम में (अश्रवणात्) श्रुति के न कहने से, सो (न) नहीं, क्योंकि (ताः) वे अप् तत्त्व

(एवहि) ही (उपपद्यन्ते) उपपन्न होते हैं ॥

यदि अप् तत्व के जीवात्मा के साथ जाने में यह शङ्का हो कि श्रुति में तौ श्रद्धा की गति है, अप् की नहीं, क्योंकि—

असौ वाव लोको गौतमाग्निः ॥ (छान्दो० ५ । ४ । १)

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति ॥ (छान्दो० ५।४।२)

इस द्युलोक का नाम अग्नि है, इसी द्युलोक रूप अग्नि में देवता श्रद्धा का होम करते हैं ॥

तब तौ प्रथम श्रद्धा का होम करने से अप् का होम कैसे समझा जावे? सूत्र के उत्तरार्ध में उत्तर यह है कि श्रद्धा शब्द का अर्थ उपपत्ति से अप् ही सिद्ध होता है । नहीं तौ भला जीव वा मन का धर्म श्रद्धा कोई भौतिक द्रव्य थोड़ा ही है, जिस का होम किया जासके । इस कारण श्रद्धा शब्द का वाच्य वहां अप् तत्व ही समझना चाहिये । ऐसा न समझें तौ प्रश्न और उत्तर की सङ्गति भी न मिलेगी । क्यों कि प्रश्न तौ यह था कि "पञ्चमी आहुति में अप् तत्व पुरुषवाची कैसे होते हैं । उत्तर में कहा गया कि १-द्युलोक, २ मेघ, ३-पृथिवी, ४-पुरुष, ५-स्त्रीयोनि । इन ५ अग्नियों में आहुति (लीन) होने पर अप् तत्व पुरुषवाचक बनते हैं" । बस श्रद्धा यदि अप् की पर्याय न हों तौ प्रश्न का उत्तर से कोई सम्बन्ध न रहे । इस लिये इस उपपत्ति से (ताः एव) वे अप् तत्व ही श्रद्धा शब्द का वाच्य समझो ॥ ५ ॥

२९७—अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (अश्रुतत्वात्) श्रुति में स्पष्ट नहीं कहने से, सो (न) नहीं, क्योंकि (इष्टादिकारिणां) इष्टापूर्तादि यज्ञ करने वालों की (प्रतीतेः) प्रतीति पाई जाने से ॥

यदि यह सन्देह हो कि इस प्रकरण में श्रद्धा शब्दवाच्य अप् ही सही परन्तु श्रुति में स्पष्ट यह तौ नहीं कहा कि जीव भी श्रद्धा के साथ लिपटा चलता है । तौ यह उत्तर है कि इष्टापूर्त्त यज्ञ करने वालों की चन्द्रादि लोकों में स्पष्ट गति कही गई है और वहां वे श्रद्धा के साथ चले जाते हैं । धूमादि पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक को जाना कहा है । यथा—

आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा ॥ छां० ५ । १० । ४

इसी की प्रतीति यहां भी होती है कि—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमोराजा संभवति ॥ छां० ५ । ४ । २

उस द्युलोक की अग्नि में देवता श्रद्धा का होम करते हैं, उस आहुति का राजा सोम होना संभव है। तभी तो अन्त्येष्टि संस्कार में आहुति देते समय पढ़ते हैं कि—

असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ।

तभी वे श्रद्धापूर्वक कर्मरूप आहुतिमय अप्‌तत्त्व उन इष्टापूर्त्तादि कर्म करने वाले जीवों के साथ लिपट कर चन्द्रलोकादि में उन के साथ सूक्ष्मांशों से लगी चली जाती हैं ॥

स्वामी शङ्कराचार्य कहते हैं कि—

" आहुतिमय अप्‌तत्त्वों से लिपटे हुवे जीवात्मा स्वकर्मफलभोगार्थ जन्मान्तर को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

यदि कहो कि जीवों का कर्मफलभोगार्थ जन्मान्तर तो नहीं पाया जाता, किन्तु वे तो चन्द्रलोक को प्राप्त होकर देवतों का भोजन बनजाते हैं, स्वयं भोक्ता नहीं रहते। जैसा कि—

एषसोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥
छां० ५ । १० । ४ ॥ और—

ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति, तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वाऽपक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति ॥ छां०६।२।१६

अर्थः—यह सोम राजा है, सो देवतों का भोजन है। उस को देवता खाते हैं ॥ और— वे चन्द्रलोक को प्राप्त होकर अन्न बनजाते हैं,उन को वहां देवता लोग सोम राजा के समान, बढ़ो, क्षीण हो, इस प्रकार इन को वे खाते हैं॥

जब चन्द्रलोक को प्राप्त हुवे जीव वहां जाकर देवतों का भक्ष्य बन गये, तब उन को वहां उपभोग क्या मिला, उन को देवतों ने वहां इस प्रकार खालिया, जैसे यहां किसी को सिंह व्याघ्रादि खा लेते हैं। यह अच्छा उपभोग रहा ? ॥ ६ ॥ उत्तर—

२९८—भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

पदार्थः—(भाक्तम्) यह कथन गौण है (वा) यह उत्तर पक्ष में है। (अनात्मवित्त्वात्) आत्मज्ञानी=ब्रह्मज्ञानी न होने से। (तथाहि) ऐसा ही (दर्शयति) शास्त्र दर्शाता है॥

ऊपर के उपनिषद्वचनों में जो चन्द्रलोकप्राप्ति पर जीवों को देवतों का भक्ष्य बनना कहा है, वह मुख्य कथन नहीं, गौण है। उस का तात्पर्य यह है कि इष्टापूर्त्तादि यज्ञों के कर्त्ता जो चन्द्रलोकादि द्वारा पुनर्जन्म पाते हैं, वे देवतों का भोज्य ही रहते हैं, अर्थात् चन्द्रसूर्यादि देवता उन को जरा मृत्यु का ग्रास करकर खाते हैं, जन्म मरण से छुटकारा नहीं पाते, क्योंकि अनात्मविद्=ब्रह्मज्ञानी न होने से। तदपेक्षया आत्मज्ञानी मुक्ति को पाता है, जिस से उन को देवता=पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, वायु, मृत्यु आदि नहीं खाते। यदि गौण वचन न मानें तो—

स्वर्गकामो यजेत॥

इत्यादि वचन व्यर्थ होजावें, जिन में सकामयज्ञ करने का फल स्वर्गोपभोग बतलाया गया है। इस लिये चन्द्रलोकादि उत्तमलोकप्राप्ति की निन्दा मात्र में तात्पर्य है कि मुक्ति की बराबरी ये भोग नहीं कर सकते। शङ्कर भाष्य में एक उदाहरण अच्छा दिया है। यथा—

विशोऽन्नं राज्ञां, पशवोऽन्नं विशाम्॥

अर्थात्—राजाओं का अन्न प्रजा और प्रजाओं का अन्न पशु हैं। " न तो राजा लोग प्रजा को खाते हैं, न प्रजावर्ग राजा की पूरी कचौरी वा दाल भात हैं, परन्तु तात्पर्य यही है कि उन्हें अपने भोगसाधनों में काम में लाते हैं, यही उन का भोजन कहा समझा जाता है। इसी प्रकार पशुओं को प्रजा अपने खेती बाड़ी, वाहन दुग्ध दोहन आदि कामों में जोत कर अपना भोगसाधन बनाती हैं, इस लिये पशुवर्ग प्रजाओं का भोज्य कहाता है। कुछ मोदक हलुवा पूरी के समान जड़ भोज्य नहीं। इसी प्रकार चन्द्रलोक को प्राप्त हुवे जीव भी देवों के वाहन वा भोगसाधन समझे जाते हैं, मोक्षानन्द के सामने वह क्या भोग है, किन्तु स्वयं भोज्य बनना है। प्रकरण में तात्पर्य यह हुआ कि जीव अपने कर्म फल भोगार्थ देहान्तर को प्राप्त होने के लिये, अपने कर्मों की वासनाओं से लिपटा हुआ जाता है (जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में प्रथम सूत्र में " रंहति परिष्वक्तः " शब्दों से कहा गया है।

यह बात नहीं है कि चन्द्रलोक में भोग न हो। अन्य वचन स्पष्ट दर्शाते हैं कि वहां उपभोग है। यथा—

स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ प्र० ५ । ४

अर्थात् वह चन्द्रलोक में ऐश्वर्य भोग कर फिर लौट आता है ॥ तथा—

अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दोये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते ॥ बृ० ४।३३।३

अर्थात्, और जो चन्द्रलोकप्राप्त पितरों के १०० आनन्द हैं, वह कर्मदेवों का १ आनन्द है, जो कर्म से देव पद को प्राप्त होते हैं ॥ इत्यादि ॥ ७ ॥

यहां तक उन्नति करने वाले जीवों का वासनादिमय लिङ्ग शरीर से लिपटे हुवे आगे बढ़ना कहा, अब अवनति करने वाले चन्द्रलोकादि से फिर लौटते हैं तब भी कुछ वासनामय संसर्ग लगा लिपटा आता है, वा कोरे जीवात्मा ही लौटते हैं? यह विचार चलाते हैं—

२९९—कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८॥

पदार्थः—(कृतात्यये) कृतकर्म का फल भोग समाप्त होने पर (अनुशय-वान्) लगाव लिपटाव वाला [ही लौटता है] क्योंकि (दृष्टस्मृतिभ्यां) प्रत्यक्ष देखने से और स्मृति शास्त्र से। (यथेतं=यथा—इतं=गमितम्) जैसे गया था, वैसे लौटता है, (अनेवं च) और अन्य प्रकार से भी ॥

जब इष्टापूर्त्तादि कर्म करने वाले चन्द्रलोकादि उत्तम लोकों और योनियों का फल भोग चुकते हैं; तब पुनरावृत्ति=लौटते समय भी केवल जीवमात्र स्वरूपशेष होकर नहीं, किन्तु अनुशय=लिपटी हुई वासनादि साथ रहती हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष देखा जाता है कि उस वासना के भेद से कोई तो यहां उत्तम ब्राह्मणों वा राजाओं के घर में जन्म लेते हैं, कोई कुत्ता, शूकर योनि वा चण्डालादि के घर में जन्म पाते हैं। और स्मृति भी ऐसा वर्णन करती है कि अनुशयसहित ही चढते, और अनुशयसहित ही उतरते हैं। किन्तु कोई जहां से गये थे, वहीं उसी योनि को प्राप्त होते हैं, और कोई अन्यत्र भी जन्म पाते हैं। जैसा कि कर्मभेद हो ॥ यथा—

" स्मृतिरपि—

"वर्णाआश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफल मनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुल

रूपायुःश्रुतवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते"

इति सानुशयानामेवाऽवरोहं दर्शयति (इति शाङ्करभाष्ये)

अर्थ—वर्ण और आश्रम अपने कर्म में निष्ठा वाले मर कर कर्मफलभोग कर फिर शेष कर्म से विशेष देश, जाति, कुल, रूप, आयु, विद्या, धन, सुख और बुद्धि वाले जन्म पाते हैं ॥ इस से पाया जाता है कि अनुशय से लिपटे हुवे ही आते हैं ॥

प्र०—अनुशय किस का नाम है ? उत्तर—कोई तो कहते हैं कि स्वर्गार्थ किये कर्म का कुछ शेष भाग अनुशय कहाता है, जैसा घी के भरे वर्तन में घी निकालने पर भी थोड़ी चिकनाई लगी रहजाती है। यदि कहो कि जब तक कुछ भी भोग शेष है, तब तक स्वर्ग से लौटना तो अयुक्त है, तो उत्तर यह है कि इतना न्यून शेष भोग इतना निर्बल हो जाता है कि उतने के बल से उस लोक की स्थिति आवश्यक नहीं रहती । किन्तु कर्मशेषानुसार जाति आयु भोग के लिये जन्म हो जाता है । यथा—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशोह यत्ते
रमणीयां योनि मापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा
क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ यइह कपूय
चरणा अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्
श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा॥छां०५।१०।७

अर्थ—वे जो सदाचारी हैं, भोगार्थ वे उत्तम योनि को पावेंगे, ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य की स्त्री में और जो दुराचारी हैं, दुष्ट योनि को पावेंगे, कुत्ते वा सूकर की योनि को वा चण्डाल स्त्री में ॥ ८ ॥

प्र०—इस वाक्य में तो आचरणानुसार योनि में जन्म पाना कहा है, न कि अनुशय (वासनादि) के साथ ? उत्तर—

३००—चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥८॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) यह कहो कि (चरणात्) आचरण से है, तो (न) नहीं, क्योंकि (उपलक्षणार्था) उपनिषद् की श्रुति आचरणार्थ के उपलक्षण से अनुशय का भी ग्रहण करती है । (इति कार्ष्णाजिनिः) यह कार्ष्णाजिनि का मत है ॥

तात्पर्य यह है कि अनुशय, शील आचार कर्म के उपलक्षण में चरण शब्द है ॥९॥

३०१—आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

पदार्थः—(इति चेत्) यदि ऐसा कहो कि (आनर्थक्यम्) सदाचार व्यर्थ रहा, इष्टापूर्त्तादि कर्म ही फलजनक हो जायंगे। तो (न) नहीं क्योंकि (तदपेक्षत्वात्) इष्टापूर्त्तादि कर्मों में भी सदाचार की अपेक्षा है ॥१०॥

३०२—सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

पदार्थः—(बादरिः तु इति) बादरि आचार्य तो ऐसा कहते हैं कि (सुकृतदुष्कृते) सुकर्म दुष्कर्म इन दोनों का नाम ही चरण शब्द से समझना चाहिये ॥ ११ ॥

३०३—अनिष्टादिकारणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अनिष्टादिकारिणाम्) इष्टापूर्त्तादि यज्ञ न करने वालों का (अपि) भी (च) तो (श्रुतम्) फल सुना गया है ॥

पूर्व पक्ष—विचारणा यह है कि क्या इष्टापूर्त्तादि करने वाले ही चन्द्रलोकादि को प्राप्त होते हैं वा सब ही ? कौषीतकी उपनिषद् वाक्यों में तो अन्यों का भी चन्द्रलोकगमन सुना जाता है। यथा—

ये वै केचनास्मास्माल्लोकात्प्रयन्ति
चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ॥ कौषी० १ । २ ॥

अर्थः—जो कोई इस लोक से मर कर जाते हैं, वे सब चन्द्रलोक को ही जाते हैं॥

इस से तो सब किसी का चन्द्रलोक को प्राप्त होना पाया जाता है ? ॥१२॥

उत्तर पक्ष—

३०४—संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(संयमने) ईश्वर=यमराज के नियम में (तु) ही (अनुभूय) अनुभव करके (इतरेषाम्) अनिष्टादिकारी पापियों के (आरोहाऽवरोहौ) चढ़ाव उतराव होते हैं (तद्गतिदर्शनात्) उन की गति देखने से ॥

ईश्वर के नियम में चाहे सब को चन्द्रलोक को जाना पड़े, परन्तु वहां का उत्तम भोग उन पापियों को नहीं हो सक्ता, केवल चढ़ना उतरना ही है, जिस से उन का लिङ्ग शरीर चन्द्रलोक के आप्यायन से फिर जन्म ग्रहण करने योग्य बन जावे ॥ १३ ॥

३०५–स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

पदार्थः–(च) और (स्मरन्ति) स्मृतिकार भी कहते हैं कि—

पापियों को नरकादि नीचगति प्राप्त होती हैं, उत्तम चन्द्रलोकादि में भोगार्थ जन्म नहीं होता है। यह बात स्मृतियों में भी वर्णित है। मनु ४। ८८ से पापियों की गति नरकों में वर्णित है ॥ १४ ॥

३०६–अपि च सप्त ॥ १५ ॥

पदार्थः–(च) तथा च (सप्त) सात (अपि) भी हैं ॥

सात नरक भी सुने जाते हैं, जहां पापियों को अपने पाप का फल विशेष मिले ॥ १५ ॥

३०७–तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

पदार्थः–(तत्र अपि) वहां भी (तद्व्यापारात्) उस यम=परमात्मा की व्यवस्थानुसार सुख दुःख के व्यापार हैं ही, तब (च) भी (अविरोधः) कुछ विरोध नहीं ॥ १६ ॥

३०८–विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पदार्थः–(विद्याकर्मणोः) ज्ञान और कर्म का [ग्रहण है] (इति तु) यह तो (प्रकृतत्वात्) प्रकरण चला आने से है ॥

पञ्चाग्निविद्या के वर्णन में कहा है कि–

वेत्थ यथा ऽसौ लोको न संपूर्यते ॥ छां० ५ । ३ । ३ ॥

अर्थ–तुम जानते हो कि जिस कारण यह (चन्द्र) लोक भर नहीं जाता ? अर्थात् सब ही मर कर चन्द्रलोक को प्राप्त हों तो वह लोक भीड़ से भर जावे ? क्या कारण है कि वह भर नहीं जाता ? उत्तर में वहीं कहा है कि–

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं, तेनाऽसौ लोको न संपूर्यते ॥ छां० ५ । १० । ८

अर्थ–और इन दोनों मार्गों में से किसी एक से भी ये भूत जो बार २ बदलने वाले क्षुद्र जन्तु हैं, नहीं बनते। [किन्तु उन के लिये] एक तीसरा

मार्ग है, जिस से उत्पन्न हो, और मर। इस कारण यह चन्द्रलोक पर नहीं जाता॥

ज्ञान से देवयान और इष्टापूर्त्तादि कर्म से पितृयाण मार्ग की गति होती है, बस इन दोनों मार्गों वाले तो क्षुद्र योनियों को प्राप्त नहीं होते, किन्तु ऐसे लोग बहुत हैं जो ज्ञान और कर्म दोनों से रहित हैं, वे पितृयाण से चन्द्रलोक में जन्म लेने के भी अधिकारी नहीं, किन्तु अन्य नीच क्षुद्र योनियें बहुत हैं, बस उन में चले जाते हैं ॥ १७ ॥

३०९—न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(तृतीये) तीसरे मार्ग में (न) यह नियम नहीं, क्योंकि (तथोपलब्धेः) वैसे ही उपलब्धि होने से ॥

ज्ञान और कर्म द्वारा देवयान और पितृयाण से भिन्न तीसरे जन्मने मरने वाले क्षुद्र जन्तु का जन्म पाने के लिये चन्द्रलोकप्राप्ति आवश्यक नहीं। उन को तो वैसे ही देहप्राप्ति हो जाती है ॥ १८ ॥

३१०—स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

पदार्थः—(अपि च) तथा च (लोके) संसार में (स्मर्यते) स्मृतियों में भी कहा गया है। देखो मनु अध्याय १२। ९ में ॥ १९ ॥

३११—दर्शनाच्च ॥ २० ॥

पदार्थः—(दर्शनात्) देखने से (च) भी ॥

अण्डज, स्वेदज, जरायुज, उद्भिज्ज इन चार प्रकार की सृष्टियों में उद्भिज्ज और स्वेदज तो यूं ही जन्म पा जाते हैं, मैथुन क्रिया भी अपेक्षित नहीं होती ॥२०॥

३१२—तृतीयशब्दाऽवरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

पदार्थः—(तृतीयशब्दाऽवरोधः) तृतीय शब्द की रोक (संशोकजस्य) स्वेदज की पहचान को है ॥

छान्दोग्य ६। ३। १ में जो ३ प्रकार की सृष्टि कही है कि—

आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्

अण्डे से जरायु से और फूटने से जन्मने वालों में स्वेदज और उद्भिज्ज को एकत्र गिना गया जान पड़ता है ॥ २१ ॥

इस अधिकरण में यह कहा गया है कि इष्टादि यज्ञों के कर्त्ता चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं और अपने कर्म का फल भोग कर पुनः अनुशय (वासनादि) के सहित वापिस आते हैं। अब अगले अधिकरण में यह परीक्षा की जायगी

कि चन्द्रलोक से लौटना किस रीति और किस रूप से होता है। वायु द्वारा, वा वायुरूप होकर, वा आकाश द्वारा वा आकाशरूप होकर वा अन्य प्रकार से ? इत्यादि—

३१३—साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(उपपत्तेः) युक्ति से (साभाव्यापत्तिः) समान भाव की प्राप्ति होसकती है ॥

छान्दोग्य ५। १०। ५ में चन्द्रलोक से लौटने का प्रकार यह कहा है कि—

अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतम्। आकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमोभवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघोभवति मेघोभूत्वा प्रवर्षति ॥

अर्थ—फिर उसी मार्ग को पुनः लौटते हैं जिस को गये थे। (प्रथम) आकाश को, आकाश से वायु को, वायु होकर धूम बनता है, धूम बनकर अभ्र=हलका बादल बनता है, अभ्र बनकर मेघ=गाढ़ा बादल बनता है, मेघ बनकर वर्षता है ॥

इस में संशय यह है कि आकाश वायु अभ्र मेघ का स्वरूप ही वे जीव बन जाते हैं, वा आकाशादि के साथी वा समान होने से तात्पर्य है? क्योंकि धूम बनकर,वायु बनकर इत्यादि पदों से तो यही आशय निकलता है कि जीव स्वरूप से ही वायु बन जाता है, परन्तु पूर्वार्ध में जहां यह कहा है कि आकाश को प्राप्त होता है, आकाश से फिर वायु को प्राप्त होता है। इन शब्दों से यह प्रतीत होता है कि आकाशस्वरूप वा वायुस्वरूप नहीं होजाता, किन्तु उन में रहता है। और यही ठीक भी है। सूत्रकार कहते हैं कि (उपपत्तेः) युक्तिसिद्ध उपपत्ति से (साभाव्यापत्तिः) अर्थात् आकाश वायु अभ्र आदि में मिल सकने योग्य सूक्ष्म लिङ्गशरीरी रहना पड़ता है, न कि अन्य का अन्य बनकर स्वरूप से बदल जाना ॥ २२ ॥

प्रश्न—तो क्या आकाश वायु अभ्रादि द्वारा वर्ष कर जन्म लेने तक में बहुत समय लगता है ? उत्तर—

३१४—नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

पदार्थः—(अतिचिरेण) बहुत विलम्ब से (न) नहीं, क्योंकि (विशेषात्) विशेष से ॥

ओषधि वनस्पत्यादि भोग शरीरों से निकलना विशेष करके देर देर में होता है, इस से पाया जाता है कि विना भोग के प्रयोजन, व्यर्थ देरी का कारण नहीं, तब शीघ्र २ ही आकाश वायु आदि का समय बीतना जान पड़ता है ॥ २३ ॥

३१५–अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

पदार्थः–(अन्याधिष्ठितेषु) अन्य जीव जिन के अधिष्ठाता हैं, उन में (पूर्ववत्) पूर्व के समान (अभिलापात्) स्पष्ट कथन से ॥

जैसे पूर्व कथन किया गया कि चन्द्रलोक से आकाश वायु आदि में उन के द्वारा जीव लौटता है इसी प्रकार अन्य जीवों से अधिष्ठित ओषधि वनस्पतियों में भी चन्द्रलोकागत जीव केवल अनुशयी रूप से वर्षा के पानी के साथ वर्ष कर पानी को वृक्षादि चूसते हैं, तब उन में होकर, उन वनस्पतियों के फलादि को मनुष्य खाते हैं तब उन के वीर्य में प्रवेश करता है ॥ २४ ॥ और–

३१६–अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

पदार्थः–(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (अशुद्धम्) यह अनुमान अशुद्ध=प्रमाणरहित है, तो (न) नहीं, क्योंकि (शब्दात्) शब्द प्रमाण से ॥

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे ।
गर्भे संजायसे पुनः ॥ यजुः १२ । ३६ ॥

इत्यादि प्रमाणों से जीवों को जल ओषधि आदि में बसते हुवे, फिर गर्भ में जन्म पाना शब्द प्रमाण से प्रमाणित है ॥ २५ ॥ तथा च–

३१७–रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

पदार्थः–(अथ) इस के पश्चात् (रेतःसिग्योगः) वीर्य सेचन करने वाले पुरुष से संयोग करता अर्थात् वीर्य के साथ अनुशयी होकर रहता है ॥२६॥ फिर–

३१८–योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

पदार्थः–(योनेः) स्त्री की योनि से (शरीरम्) देह को धारण करता है ॥२७॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

॥ १ ॥

ओ३म्

अथ तृतीयाऽध्यायस्य

द्वितीयः पादः

पूर्व पाद में देहान्तर और लोकान्तर और योन्यन्तर की प्राप्ति कही थी, अब जीवात्मा के जाग्रत् स्वप्नादि अवस्था भेदों पर विचार करते हैं:—

३१९—संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

पदार्थः—(संध्ये) बीचली अवस्था स्वप्न में (सृष्टिः) सृष्टि होती है। (हि) क्योंकि (आह) शास्त्र कहता है ॥

बृहदारण्यक उपनिषद् ४ । ३ । ९ में "स यत्र प्रस्वपिति" से आरम्भ करके "न तत्र रथा, न रथ योगा, न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" बृह० ४ । ३ । १० में कहा है कि "जहां वह सोता है, वहां न रथ हैं, न रथ के जोतने, न मार्ग, परन्तु रथों, रथ के जोतनों और मार्गों को उत्पन्न करता है। इस से पाया जाता है कि स्वप्न की सृष्टि सत्य है ॥ १ ॥ तथा—

३२०—निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

पदार्थः—(एके) कई शास्त्रकार (निर्मातारम्) सृष्टि के रचने वाले को भी देखते हैं। (च) और (पुत्रादयः) पुत्र,पुत्री, पौत्र, दौहित्र इत्यादि भी होते हैं ॥

स्वप्न में न केवल रथ, रथ योग, रथ मार्ग ही बन जाते हैं, किन्तु रथादि के निर्माता को भी कई लोग स्वप्न में देखते हैं, तथा रथादि जड़ पदार्थों की रचना स्वप्न में हो जाती है, अपि तु पुत्र पौत्रादि सन्तति भी स्वप्न में होती हैं ॥ २ ॥ उत्तर—

३२१—मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तु) परन्तु (मायामात्रं) केवल माया=प्रकृति का विकार है, क्योंकि (कार्त्स्न्येन) संपूर्णता से (अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्) स्वप्नोत्पन्न पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता ॥

स्वप्न की सृष्टि शारीरक प्रकृति के संस्कार मात्र का उदय अस्त-व्यस्त रूप में होती है, सुव्यवस्थित नहीं। इस लिये मायामात्र है। वास्तविक नहीं ॥३॥

प्रश्न—तौ क्या स्वप्न में कुछ भी सत्य प्रभाव नहीं ? उत्तर—

३२२—सूचकश्च श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(श्रुतेः) उपनिषदादि के वाक्यों से (च) और अनुभव से (सूचकः) स्वप्न कुछ सूचना देने वाला है (तद्विदः) स्वप्नविद्या के जानने वाले (आचक्षते च) कहते भी हैं ॥

छान्दोग्य ५। २। ९ में कहा है कि " इष्टापूर्त्तादि काम्य कर्मों को करने वाला स्वप्नों में स्त्री को देखे तौ उस स्वप्न देखने में यह सूचना जाने कि कार्य सफल होगा। यथा—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ इति ॥

तथा स्वप्नशास्त्रज्ञ कहते हैं कि " हाथी पर चढ़ना स्वप्न में, कुछ भलाई का सूचक, तथा गधे पर चढ़ना बुराई का है " ॥

तात्पर्य इतना ही है कि कुसंस्कारों से, कुपथ्य से, क़ब्ज़ से होने वाले रोग दुःखादि की, और सुसंस्कारों से, सुपथ्य से, सुपच और स्वास्थ्य से अच्छे स्वप्न दीखते और भावी भलाई का अनुमान वा सूचना देते हैं। किन्तु स्वयं स्वप्न तौ मायामात्र ही हैं ॥ ४ ॥

प्रश्न—स्वप्न में जीवात्मा यथार्थ वस्तुओं को न देख कर मायामात्र क्यों देखने लगता है, यह जीव तौ ज्ञानवान् है ? उत्तर—

३२३—पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

पदार्थः—(पराभिध्यानात्) विद्यमान सत्य पदार्थों से पर अर्थात् अन्यों का ध्यान करने से (तु) तौ (तिरोहितम्) इस का जाग्रत् का ज्ञान ध्यान छिप जाता है (ततः) इस से (हि) ही (अस्य) इस जीव को (बन्धविपर्ययौ) बन्धन और विपरीत ज्ञान होते हैं ॥

विद्यमान पदार्थों को छोड़ कर यह जीव बाहर अविद्यमान और

भीतर संस्कार वासनादि रूप से विद्यमान पदार्थों का ध्यान करने लगता है, क्योंकि अल्पज्ञ है, इसी से इस को विपरीत स्वप्न दीखते और बन्धन भी होता है; यदि अल्पज्ञतावश अनात्मा में आत्मबुद्धि आदि पराभिध्यान न करे तो न तो स्वप्न दीखें, न बन्धन हो, न कोई विपरीत प्रतीति हो ॥ ५ ॥

प्रश्न—जीव के स्वरूप में कोई लाग लपेट किसी संस्कार वासना आदि की नहीं है, तब स्वप्न में कहां से यह अनहुवे अनोखे दृश्य दीखने लगते हैं ? उत्तर—

३२४—देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

पदार्थः—(वा) अथवा (देहयोगात्) देह के योग से (सः) वह स्वप्न (अपि) भी होता है ॥

देह की स्वस्थ, अस्वस्थ, व्यग्र, एकाग्रमनस्कता आदि जैसी दशा होती हैं, उस देह के योग से वैसे स्वप्न दीखते हैं । केवल जीव ही तो स्वच्छस्वरूप से स्वप्न में नहीं रह जाता, देह का योग तो रहता है ॥ ६ ॥

स्वप्नावस्था कथन के अनन्तर अब सुषुप्ति का वर्णन करते हैं । यथा—

३२५—तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

पदार्थः—(नाडीषु) नाड़ियों में (तदभावः) उस स्वप्न का अभाव है । (तच्छ्रुतेः) इस बात के श्रवण से । (च) और (आत्मनि) आत्मा में ॥

१ से ६ तक सूत्रों में जिस स्वप्न का वर्णन है, वह स्वप्न उस समय नहीं होता जब कि आत्मा अपने स्वरूप आत्मा में मग्न होता है और जब आत्मा रक्तवाहिनी नाड़ी मात्र में मग्न होता है । तब केवल हृदय पिण्ड की गति से नाड़ियें चलती है, शेष कुछ नहीं होता, इसी को सुषुप्ति कहते हैं ॥७॥

३२६—अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अतः) इस कारण (अस्मात्) इस आत्मस्वरूप से (प्रबोधः) जागना होता है ॥

जिस कारण सुषुप्ति अवस्था में नाड़ीव्यवहार मात्र रहता है और आत्मा अपने स्वरूपमात्र में लीन रहता है, इसी कारण इस दशा में ज्यों का त्यों प्रबोध (जागरण) होता है ॥ ८ ॥

३२७—स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(सः) वह जीवात्मा (एव) ही (तु) तौ जागता है । क्योंकि (कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः) १ कर्म, २ अनुस्मृति, ३ शब्द और ४ विधि से ॥

सुषुप्ति में आत्मा केवल अपने स्वरूप में मग्न होता है, तौ कोई यह न समझे कि प्रबोधकाल में कोई अन्य जीव जाग उठता है, किन्तु (स एव) वही उठता है । इस के ४ हेतु हैं । १—यह कि कर्म अर्थात् सोने से पूर्व जिन कर्मों का करना उस को शेष था, उठ कर उन्हीं सोचे हुवे कर्मों को फिर करता है । २ यह कि अनुस्मृति अर्थात् शयन से पूर्व वृत्तान्तों का अनुस्मरण करता है । ३—यह कि—शब्द अर्थात् शब्द प्रमाण से भी उसी जीवात्मा का प्रबोध (जागना) पाया जाता है । ४—यह कि—विधि अर्थात् आज्ञा भी मुक्ति के यत्न करने की पाई जाती हैं । यदि सुषुप्ति में सोजाने मात्र से फिर जन्म न होता, तौ सुषुप्ति की प्राप्ति ही मुक्ति की प्राप्ति होजाती ॥

३ तीसरा हेतु जो शब्द प्रमाण बताया है, उस को हम इस प्रकार पाते हैं । यथा—

१—पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या द्रवति बुद्धान्तायैव ;

बृहदारण्यकउपनिषद् ४ । ३ । १६

२—सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति ।

छान्दोग्यउपनिषद् ८ । ३ । २

३—त इह व्याघ्रोवा सिंहोवा वृकोवा वराहोवा कीटोवा पतङ्गोवा दंशोवा मशकोवा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥

छान्दोग्यउपनिषद् ६ । ९ । ३

अर्थ—१—(सोते से उठकर) फिर उसी न्याय से उसी योनि से चलते हैं जो जागने पर्यन्त है ॥

२—सब प्रजायें प्रतिदिन जाती हुई इस ब्रह्मलोक को नहीं जान पातीं॥

३—वे इस संसार में चाहे व्याघ्र हो, वा सिंह हो, वा भेड़िया हो, वा शूकर हो, वा कीड़ा हो, वा पतङ्ग हो, वा डांश हो, वा मच्छर हो, जो २ होते हैं, वही २ रहते हैं । अर्थात् ज्यों के त्यों ही सुषुप्ति से उठकर उसी २ योनि के बन्धन में रहते हैं, मुक्त नहीं होते ॥

४ चौथा हेतु विधि दिया है । अर्थात् यदि सुषुप्ति ही मुक्ति वा आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती तो सब जीवों को स्वभावसिद्ध नित्य सोजाने मात्र से मुक्तिलाभ होजाता, मुक्त्यर्थ यत्न परम पुरुषार्थ विधान व्यर्थ होजाता ॥९॥

३२८–मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

पदार्थः–(परिशेषात्) चारों अवस्थाओं के परिशेष से (मुग्धे) मूर्छित में (अर्धसंपत्तिः) आधी आत्मस्वरूप की संपत्ति है ॥

शङ्करभाष्य और भाष्यारम्भ की कारिका देखने योग्य हैं । यथा—

किं मूर्छैका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् ।
अन्याऽवस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥१॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभानान्न सुप्तता ।
मुखादिविकृतेस्तेनाऽवस्थाऽन्या लोकसम्मता ॥२॥

अर्थ–क्या मूर्छा भी जाग्रत् आदि के अन्तर्गत एक अवस्था है, अथवा कोई अन्य ही अवस्था होगी ? (उत्तर–) अन्य अवस्था तो प्रसिद्ध नहीं, इस हेतु से जाग्रत् आदि में ही एक यह भी समझो ॥१॥ (निषेध–) जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों में एक (मुग्धता=मूर्छावस्था) हो नहीं सकती, और दूसरी वस्तुओं का भान रहने से सुषुप्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि मुखादि के विकार होते हैं, इस कारण लोक सम्मत एक अन्य ही अवस्था (मूर्छा) जाननी चाहिये ॥ २ ॥

भाष्यार्थः–जिस को लोक में मूर्छित कहते हैं, वह मुग्ध होता है । मुग्ध की अवस्था का क्या नाम है, इस परीक्षा में कहा जाता है–शरीरस्थ जीव की ३ अवस्था प्रसिद्ध हैं १ जाग्रत् २ स्वप्न ३ सुषुप्ति । चौथी शरीर से निकलने की । श्रुति वा स्मृति में कोई ५ वीं अवस्था जीव की प्रसिद्ध नहीं । इस लिये मूर्छाऽवस्था भी इन्हीं ४ अवस्थाओं में कोई सी हो सकती है । इस पर हम कहते हैं कि मूर्छित को जागरितावस्थ तो कह नहीं सक्ते, क्योंकि वह इन्द्रियों से विषयों को नहीं अनुभव करता (प्रश्न) यह तो हो सक्ता है, इषुकार (तीरगर) के दृष्टान्त से, मूर्च्छित भी हो जायगा । जैसे इषुकार जागता हुआ भी तीर बनाने में मन लगा होने से अन्य विषयों का अनुभव नहीं करता, ऐसे ही मूर्च्छित पुरुष भी मूसल

आदि की चोट से उपजे दुःख के अनुभव में मन व्यग्र होने से जागता हुवा भी अन्य विषयों को नहीं अनुभव करता। (उत्तर—) नहीं, क्योंकि सुध न रहने से। इषुकार तौ मन लगाये हुवे कहता है कि इतने समय तक मैंने तीर की ही उपलब्धि की है, परन्तु मूर्च्छित पुरुष की तौ जब मूर्च्छा उतर कर संज्ञा (सुध) आती है, तब कहता है कि गहरी बेसुधि में मैं इतने समय तक गिरा पड़ा रहा, मुझे कुछ भी सुध बुध नहीं रही। जागता हुवा तौ एक विषय (तीर आदि) में मन लगाये हुवे भी अपने देह को थांभे रहता है, परन्तु मूर्छित पुरुष का देह तौ भूमि पर गिर पड़ता है। इस लिये न तौ जागता है, न बेसुध होने से स्वप्न देखता है। न मर गया कह सक्ते, क्योंकि प्राण और गर्मी बनी रहती है। जब किसी को मूर्च्छा आती है, तब लोग यह संशय करते हैं कि यह मर गया, वा नहीं मरा, और तब उस की छाती पर हाथ धर कर देखते हैं कि गर्मी है वा नहीं, नाक पर हाथ रख कर देखते हैं कि प्राण (श्वास) चलता है वा नहीं। तब यदि प्राण और गरमी का अस्तित्व नहीं पाते तौ उस को मर गया, समझ कर दाह करने को जङ्गल (श्मशान) को ले जाते हैं और यदि प्राण (श्वास) और गर्मी को पाते हैं तौ यह समझ कर कि यह मरा नहीं है सुध आने के लिये औषधोपचार करते हैं। पुनः उठ खड़ा होने से निश्चय होता है कि मरा नहीं था, क्योंकि यमलोक पहुंचे हुवे फिर थोड़ा ही जी सक्ते हैं॥

(प्रश्न—) अच्छा तौ (जाग्रत न सही) सुषुप्त समझो, क्योंकि न तौ सुध है, न मर ही गया है। (उत्तर—) नहीं, क्योंकि सुषुप्त से इस के लक्षण नहीं मिलते। मूर्छित तौ कभी २ देर तक श्वास नहीं लेता, देह पर कंपकंपी होती है, डरावना मुंह और फटी हुई आंखें होती हैं। परन्तु सुषुप्त का मुख प्रसन्न, और नियत समय में बार २ श्वास लेता है, उस की आंखें मिची होती हैं। और उस का देह कांपता नहीं। और सुषुप्त को हाथ लगाने से ही जगा लेते हैं, परन्तु मूर्छित को तौ मुद्गर की चोट से भी नहीं जगा सक्ते। तथा मूर्छा और नींद के कारण भी पृथक् २ हैं। मूर्छा का कारण मूसल की चोट आदि होते हैं, और नींद का कारण परिश्रम वा थकान आदि होते हैं। और लोक में मूर्छित को सोया हुवा कहते भी नहीं, इस लिये (तीनों अवस्थाओं) से बचने से हम समझते हैं कि मूर्छा (एक अन्य अवस्था) अर्धसंपत्ति (नाम की) है। क्योंकि सुध न रहने से तौ (संपन्न)

आत्मस्वरूप को प्राप्त और विलक्षणता से (असंपन्न) आत्म स्वरूप को अप्राप्त होता है ॥

(प्रश्न—) फिर भी मूर्छा को अर्ध सम्पत्ति भी कैसे मानलें, जब कि सुप्त को श्रुति ने बतलाया है कि "सता सोम्य तदा संपन्नोभवति" छां० ६ । ८ । १ "अत्रस्तेनाऽस्तेनोभवति" बृह० ४ । ३ । २२ । "नैतं सेतुमहोरात्रे तरतः, न जरा, न मृत्युर्नशोको न सुकृतं, न दुष्कृतम्" छां० ८ । ४ । १ इत्यादि ॥ अर्थात् "तब (सुषुप्ति) में सत्=परमात्मा से सम्पन्न हो जाता है" "तब चोर भी चोर नहीं रहता" "उस पुल (सुषुप्ति) पर न दिन और रात्रि की गति है, न बुढ़ापा, न मौत, न शोक, न पुण्य, न पाप" ॥

(प्रश्न—) क्योंकि जीव में पुण्य पाप का लगाव सुखी दुःखी होने की प्रतीति होने से होता है, और सुप्त को सुख दुःख की प्रतीति होती नहीं और मूर्छित को भी सुख दुःख की प्रतीति नहीं होती, इस कारण उपाधि के शान्त हो जाने से सुप्त के समान मूर्छित को भी संपूर्ण संपत्ति ही क्यों न मानी जावे, अर्ध सम्पत्ति क्यों ?

(उत्तर—) हम यह नहीं कहते कि मूर्छित पुरुष को ब्रह्म के साथ अर्ध सम्पत्ति होती है, किन्तु हम यह कहते हैं कि मूर्छित की आधी अवस्था सुषुप्त के बराबर, और आधी अन्य अवस्था पाई जाती है, इस लिये हमने दिखलाया कि मूर्छित और सुषुप्त में क्या २ समता और क्या २ विषमता हैं। और मूर्छावस्था मृत्यु का द्वार भी है । यदि उस का कर्म शेष होता है तो बोलने लगता है, और सुध में आ जाता है । परन्तु, जब कर्म (कर्म-फल भोग) शेष नहीं रहता तो प्राण और गर्मी निकल जाती हैं । इस लिये ब्रह्मज्ञानी लोग अर्ध संपति को चाहते हैं । और यह जो कहा था कि ५ वीं कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं, सो कोई दोष नहीं । यह (मूर्छा) अवस्था कभी २ होती है, इस लिये अवस्थाओं में (गिन कर) प्रसिद्ध नहीं है । तथा लोक और आयुर्वेद शास्त्र में प्रसिद्ध भी है ही । किन्तु आधी संपत्ति मान लेने से ५ वीं नहीं गिनी जाती, बस इस प्रकार कोई झगड़ा नहीं रहता ॥ १० ॥

३२९—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्रहि ॥ ११ ॥

पदार्थः—(स्थानतः) स्थान से (अपि) भी । (परस्य) परमात्मा का (उभयलिङ्गम्) दो प्रकार का स्वरूप (न) नहीं है (हि) क्योंकि (सर्वत्र) सर्वत्र ऐसा ही उपदेश है ॥

इस सूत्र के ऊपर भी श्री शङ्कराचार्य के भाष्य की कारिकायें देखने योग्य हैं । वे इस अधिकरण के आरम्भ में इस प्रकार हैं:—

ब्रह्म किं रूपि चारूपि भवेन्नीरूपमेव वा ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद् ब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥ १ ॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः ।
रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥ २ ॥

अर्थ—(प्रश्न—) ब्रह्म क्या रूप वाला है और अरूप भी है ? अथवा केवल नीरूप ही है ? दोनों प्रकार की श्रुतियें होने से ब्रह्म दोनों प्रकार का ही होगा ? ॥ १ ॥ (उत्तर—) वेदान्तवाक्यों से अपूर्व नीरूप ही प्रतिपादित है; रूप जो अनुवाद (अर्थ) किया जाता है, वह भ्रान्त है । दोनों प्रकार का होना विरोध दोषयुक्त है ॥ २ ॥

ब्रह्म अरूप सरूप भेद से दोनों प्रकार का नहीं है, यदि स्थान से अर्थात् पृथिव्यादि स्थानों को मिलाकर स्थानी ब्रह्म को सरूप कहें सो भी नहीं । सर्वत्र ही ब्रह्म को अरूप कहा है ॥

शङ्करभाष्यार्थः—जिस ब्रह्म के साथ जीवात्मा सुषुप्ति आदि में (देहादि) उपाधियों के उपशम से संपन्न होता है, उस (ब्रह्म) का स्वरूप अब श्रुति के वश से निर्णय किया जाता है । ब्रह्मविषयक श्रुतियें दोनों चिन्हों की पाई जाती हैं । यथा—

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः ॥ छां० ३ । १४ । २

इत्यादि (श्रुतियें) सविशेष चिन्ह वाली हैं । और—

अनणुअह्रस्वमदीर्घम् ॥ बृ० ३ । ८ । ८

इत्यादिक निर्विशेष लिङ्ग भी हैं । क्या इन श्रुतियों में उभय (दोनों) लिङ्ग वाला ब्रह्म समझना चाहिये वा किसी एक लिङ्ग वाला ? यदि कोई एक लिङ्ग भी है, तो सविशेष है, वा निर्विशेष ? यह विचारणा है । उसमें

दोनों चिन्ह की श्रुतियों के अनुग्रह से उभयलिङ्ग ही ब्रह्म है, इस पर (हम) कहते हैं कि—प्रथम तो स्वतः ही ब्रह्म की उभयलिङ्गता सिद्ध नहीं होती, कोई वस्तु अपने आप ही रूपादि विशेषयुक्त भी और रूपादि विशेषरहित भी हो, यह निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि परस्पर विरोध से। (प्रश्न—) अच्छा तो (स्वतः न सही) स्थान से=पृथिव्यादि उपाधि के योग से सही (उत्तर—) यह भी सिद्ध नहीं हो सकता। उपाधि के योग से भी एक स्वरूप की वस्तु दूसरे स्वरूप की नहीं बनजा सकती। कोई स्वच्छ स्फटिक (बिल्लौर) अलक्तादि (रङ्ग) के उपाधियोग से अस्वच्छ नहीं हो सकता। अस्वच्छता की प्रतीति भ्रम मात्र है। उपाधियों को (उपहित का धर्म मानकर) अविद्या से उपस्थित किया गया है। इस कारण (दोनों में से) किसी एक लिङ्ग को मान लेने पर भी समस्त विशेषों से रहित निर्विकल्प ही ब्रह्म समझना होगा। उस के विपरीत नहीं। सब ही ब्रह्म स्वरूप प्रतिपादन करने वाले वाक्यों "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" ॥ कठ ३। १५ इत्यादि में समस्तविशेषविरहित ब्रह्म ही उपदेश किया गया है ॥ ११ ॥ शङ्का और समाधान=पूर्वोत्तरपक्ष करके अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

२३०—न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (भेदात्) भेद से (न) उभयविध ब्रह्म का निषेध नहीं बनता, सो (न) नहीं, क्योंकि (प्रत्येकम्) प्रत्येक वेदान्तवाक्य में (अतद्वचनात्) वैसा नहीं कहा, इस से ॥

यदि भिन्न २ प्रकार से ब्रह्म का स्वरूप वर्णन किया गया होने से यह कहो कि ब्रह्म अनुभयलिङ्ग नहीं, उभयलिङ्ग है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म-स्वरूप वर्णन करने वाले प्रत्येक वचन में भिन्न २ स्वरूप ब्रह्म नहीं कहा गया ॥

यद्यपि चतुष्पाद् ब्रह्म, षोडशकल ब्रह्म, त्रैलोक्यशरीर ब्रह्म का वर्णन वेदादि शास्त्रों में कहा है, परन्तु किसी भी ऐसे वचन में उस २ आकार का अभिमानी ब्रह्म नहीं बताया गया, न उस के त्रैलोक्य शरीर को मान कर भी त्रैलोक्यभोग का भोक्ता कहीं कहा गया, प्रत्युत 'अनश्नन्' आदि पदों से अभोक्ता, निर्लेप, निःसंग कहा है, इस कारण वह केवल निराकार ही है, साकार नहीं ॥ १२ ॥ तथा च—

३३१–अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

पदार्थः–(एके) कई ब्रह्मवादी (च) फिर (एवम्) ऐसा ही (अपि) कहते भी हैं ॥

कठोपनि० ४ । ११ में तो स्पष्ट यही कहा है कि (नेह नानास्ति किञ्चन) ब्रह्म में नानात्व अर्थात् भिन्न २ साकार निराकारत्वादि नाना भेद नहीं हैं ॥१३॥

प्रश्नः–तो साकार कथन करने वाले वाक्यों की क्या गति होगी ? उत्तर–

३३२–अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

पदार्थः–(तत्प्रधानत्वात्) निराकारप्रधान होने से (अरूपवत्) रूप=आकार से रहित (एव) ही (हि) निश्चय है ॥

त्रैलोक्यशरीरादि निरूपण में गौण कथन है, साक्षात् स्वरूप कथन नहीं । अतएव निराकार ही ठीक है ॥ १४ ॥

प्रश्नः–तब तो त्रैलोक्यशरीर वा चतुष्पाद् ब्रह्मवर्णनश्रुतियें व्यर्थ रहीं ? उत्तर–

३३३–प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

पदार्थः–(अवैयर्थ्यात्) व्यर्थ न होने से (प्रकाशवत्) प्रकाश के समान जानो ॥

जैसे गोल पदार्थ पर प्रकाश भी गोल, लम्बे पर लम्बा, चतुष्कोण पर चतुष्कोण जान पड़ता है, परन्तु प्रकाश में स्वरूपतः वे आकार नहीं होते, वैसे ब्रह्म भी पृथिव्यादि में पृथिव्यादि आकारवत् कहा गया वा समझा गया, तो भी वस्तुतः निराकार ही है ॥ १५ ॥ तथा च–

३३४–आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

पदार्थः–(आह च) शास्त्र कहता भी है कि (तन्मात्रम्) ब्रह्म चेतन मात्र है, साकारादि नहीं । यथा–

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवै-वं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव॥

बृह० ४ । ५ । १३ ॥

वह जैसे सैंधे नमक का डला न तो भीतर, न बाहर, किन्तु (भीतर

बाहर) सारा ही रस का ढेला है, ऐसे ही अरे (मैत्रेयि !) यह परमात्मा भी न भीतर, न बाहर (किन्तु) समस्त ही केवल चेतनस्वरूप है ॥ १६ ॥

३३५–दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

पदार्थः–(दर्शयति) वेदान्तवाक्य दिखलाता (च) भी है (अथो) और (स्मर्यते) स्मृति (अपि) भी है ॥

यतोवाचोनिवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ तै० २।४।१

इत्यादि वेदान्त शास्त्र और–

प्रशासितारं सर्वेषामऽणीयांसमणोरपि ॥ मनु० १२।१२२॥

इत्यादि स्मृतियें भी ब्रह्म को निराकार ही कहती हैं ॥ १७ ॥ तथा–

३३६–अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

पदार्थः–(अतः) इस कारण (एव) ही (उपमा) उपमा (च) भी (सूर्यकादिवत्) सूर्यबिम्बादि के तुल्य है ॥

जब एक प्रकार का ही निराकार ब्रह्म है, तभी तौ सूर्यबिम्बादि की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे अचल सूर्यमण्डल भी जल में चलायमान प्रतीत होता है, वैसे ही जल के समान चञ्चल जगत् में व्यापक ब्रह्मसत्ता भी स्वयं एकरस अचल चेतन है ॥ १८ ॥

३३७–अम्बुवदऽग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

पदार्थः–(अम्बुवत्) जल के समान (अग्रहणात्) ग्रहण न होने से (तु) तौ (तथात्वम्) वैसी उपमा (न) नहीं बनती ॥

पूर्वपक्ष–सूर्य और जल में देश भेद है, वहां प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, परन्तु दार्ष्टान्त में ब्रह्म व्यापक है, उस से कोई वस्तु भिन्नदेशवर्त्ती नहीं, तब यह दृष्टान्त कैसे ठीक हो सकता है ? ॥ १९ ॥ उत्तर पक्ष–

३३८–वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

पदार्थः–(वृद्धिह्रासभाक्त्वम्) बढ़ने घटने का भागी होना (अन्तर्भावात्) प्रतिबिम्ब के भीतर होने से (उभयसामञ्जस्यात्) व्याप्य और व्यापक का देश एक ही होने से (एवम्) ऐसा हो सकता है कि दृष्टान्त का एक देश लिया जावे ॥

जल और सूर्य का देश भेद है, परन्तु परब्रह्म और जगत् में देशभेद नहीं, इस कारण दार्ष्टान्त में दोनों के देश एक होने से दृष्टान्त का यह अंश छोड़ देना चाहिये, केवल इतना ग्रहण करना चाहिये कि जल के घटने बढ़ने पर भी प्रतिबिम्बी सूर्य में घटाव बढ़ाव नहीं होते, वैसे जगत् के घटने बढ़ने जन्मने मरने आदि विकारों से ब्रह्म विकृत नहीं होता ॥ २० ॥ तथा—

३३९—दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

पदार्थः—(दर्शनात्) देखने से (च) भी ॥

हम देखते हैं कि चन्दन के काष्ठ पुञ्ज में अग्नि लगाने से जो सुगन्ध प्रतीत होता है, वह अग्नि का सुगन्ध नहीं, तथा, निंब की लकड़ी में आग लगाने से धुवें में कड़ुवापन अग्नि का नहीं; निंब का है, इसी प्रकार चञ्चल जगत् के विकार जगत् के ही हैं, ब्रह्म के नहीं ॥ २१ ॥

३४०—प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(प्रकृतैतावत्त्वं) प्रकरणप्राप्त इयत्ता का (प्रतिषेधति) निषेध करता है (हि) क्योंकि (ततः) इस के आगे (भूयः) फिर (च) भी (ब्रवीति) कहता है ॥

प्रश्नः—नेति नेति कहकर वेदान्त शास्त्र में किस का निषेध है ? उत्तर— प्रकरण में ब्रह्म के दो रूप—१ मूर्त्त २ अमूर्त्त कहे थे, उन्हीं की इयत्ता का निषेध है, ब्रह्म का निषेध नहीं ॥

प्रश्न—प्रथम से अब तक तो ब्रह्म को केवल अमूर्त्त=निराकार बताते और सिद्ध करते आये, फिर अब मूर्त्त अमूर्त्त भेद से दो प्रकार के रूप कैसे बताते हो ? उत्तर—आप प्रकरण को देखकर जानेंगे कि प्रकरण में ब्रह्म का स्वरूप दो प्रकार का नहीं कहा है, किन्तु दो प्रकार के रूपों का ब्रह्म स्वामी है, वे दोनों रूप उस के स्व (मिलकियत) हैं । यथा—

द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्त्तं चैवाऽमूर्त्तं च (बृ० २ । ३ । १)

इस के आगे बतलाया है कि—

तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यम् २ । ३ । २

इस से स्पष्ट होगया कि दो प्रकार के पदार्थों का ब्रह्म स्वामी है । १ मूर्त्त= पृथिवी, जल तेज और २ अमूर्त्त आकाश और वायु । इन में से साकार मर्त्य =मरणधर्मा है, निराकार वायु और आकाश पूर्व की अपेक्षा अमर हैं ॥

इसी तृतीय ब्राह्मण के अन्त में कहा है कि—

अथात आदेशोनेति नेति न ह्येतस्मादिति ॥ २ । ३ । ६ ॥

अर्थ—अब आदेश है कि ये दोनों रूप ब्रह्म नहीं हैं, न ये ब्रह्मोपादान से उत्पन्न हुवे हैं, वह निषेध से परे ब्रह्म है ॥ २२ ॥

३४१—तदऽव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(तत्) उस ब्रह्म को (अव्यक्तम्) अतीन्द्रिय (हि) ही (आह) शास्त्र कहता है ॥ यथा—

१—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । (मुण्ड० ३ । १ । ८)

अर्थः—न आंख से ग्रहण किया जाता, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, वा तप और कर्म से ॥

२—स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते ॥ (बृ० ३।९।२६)

अर्थः—वह यह आत्मा है जिस के निषेध का तात्पर्य ग्रहण में न आ सकना है, वह ग्रहण नहीं किया जाता ॥

३—अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते (गीता २।२५)

अर्थः—यह (परमात्मा) अव्यक्त, अचिन्त्य है और विकारयोग्य नहीं कहा जाता ॥ २३ ॥

३४२—अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

पदार्थः—(संराधने) उपासना में, भक्ति में, ध्यान में (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष और अनुमान से (च) भी (अपि) यही निश्चय होता है ॥

जब योगीजन उस की आराधना श्रद्धा भक्तिपूर्वक करते हैं, तब प्रत्यक्ष और अनुमान से भी यही निश्चय करते हैं कि परमात्मा अरूप निराकार है ॥

इस के भाष्य में शङ्कराचार्य जी प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ श्रुति और अनुमान शब्द का अर्थ स्मृति करते हैं । और श्रुति का प्रमाण कठोपनिषद् ४।१ का देते हैं । यथा—

१—पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ ४ । १ ॥

अर्थः—विधाता ने इन्द्रियों को बाह्यवृत्ति बनाया है, इस कारण बाहर के विषयों को (इन्द्रियों से) ग्रहण करता है, किन्तु किसी ध्यानी=धीर ने ही परमात्मा को आंख मीचे भीतर देखा है, जो मुक्ति चाहता है ॥ अर्थात् परमात्मतत्व इन्द्रियों से नहीं जाना जासक्ता, केवल जीवात्मा स्वयं ही उसे बिना आंख के देखता अर्थात् अनुभव करता है । यहां देखने का अर्थ आंख का विषय करना नहीं हैं, न अन्य इन्द्रियों का, न मन का, किन्तु आत्मा को ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है जब कि बाह्य सब विषयों से मन और इन्द्रियों को उपरत करके देखे (विचारे) ॥

२—दूसरा मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । ८ का प्रमाण दिया है कि—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

जब ज्ञान की निर्मलता से प्राण शुद्ध होजाता है तब ध्यान करता हुवा उस कलारहित को देखता (साक्षात् करता) है ॥ २४ ॥

३४३—प्रकाशादिवच्चाऽवैशेष्यं प्रकाशश्च
कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(प्रकाशादिवत्) प्रकाश, आकाश, सूर्य, चन्द्रादि के समान (अवैशेष्यम्) विशेषरहितता है (च) और (प्रकाशः) प्रकाश (च) भी (कर्मणि) योग क्रिया में (अभ्यासात्) बार २ यत्न करने से होता है ॥

जैसे प्रकाश, घटपटादि पर तदाकार दीखता है, वा सूर्य, जलादि चञ्चलता वालों में चञ्चल जान पड़ता है, पर चञ्चल होता नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् में व्यापा हुवा जगदाकार वास्तव में नहीं । और ब्रह्म के इस वास्तवस्वरूप का प्रकाश आराधना करने के अभ्यास से होता है ॥२५॥

३४४–अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

पदार्थः–(अतः) अभ्यास करने से (अनन्तेन) अनन्त ब्रह्म से साक्षात् होता है (तथा हि) और वैसी ही (लिङ्गम्) अपहतपाप्मादि पहचान होती है ॥ २६ ॥

प्रश्नः–वेदादि शास्त्रों में दोनों बातें कही हैं, ब्रह्म जगत् का कर्त्ता भी अकर्त्ता भी, तब एकरस कहां रहा ? यथा–

तदेजति, तन्नैजति ॥ यजुः ४० । ३ ॥ उत्तर–

३४५–उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

पदार्थः–(उभयव्यपदेशात्) दोनों प्रकार के कथन से (तु) तो (अहि कुण्डलवत्) सांप की कुण्डली सा समझो ॥

सांप में दो वस्तु हैं, एक सांप का चेतन जीव, दूसरा सर्प का शरीर। अब देखना यह है कि एक समय सांप सीधा लम्बा पड़ा है , फिर वही कुण्डलाकार गोल होकर पड़ गया । इतने से सर्प के शरीर में ही आकार भेद हुवा, उसके जीव में तो कुछ हुवा नहीं । इसी प्रकार प्रकृतिरूप शरीर में परम पुरुष परमात्मा था, सर्गारम्भकाल में उसी प्रकृति में व्यापक ब्रह्म ने ऐसे ही प्रकृति को विकृति करके जगदाकार कार्यरूप में परिणत कर दिया, जैसे सर्प के आत्मा ने अपने देह को कुण्डलाकार कर दिया । बस इतने से स्वरूप में आत्मा के कोई अन्तर नहीं पड़ा । स्वभाव से भी उस की सत्ता मात्र बिना किसी स्वरूपगत परिणाम के प्रकृति को जगदाकार में परिणत करने में समर्थ है ॥ २७ ॥ अथवा दूसरा दृष्टान्त समझो–

३४६–प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

पदार्थः–(वा) अथवा (प्रकाशाश्रयवत्) प्रकाश के आश्रय से प्रकाश के समान (तेजस्त्वात्) तेजःस्वरूप होने से जानो ॥

जैसे अरणियों के भीतर प्रकाश वाला अग्नि रहता है, परन्तु मन्थन से प्रकट होता है, तो भी अरणि तो भस्मरूप में परिणत हो जायगा, परन्तु तेजोमात्रस्वरूप होने से अग्नि के स्वरूप में परिणाम कुछ नहीं। इसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति और प्रलय से कोई विकार ब्रह्मस्वरूप में नहीं आता ॥२८॥

३४७- पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

पदार्थः-(वा) अथवा (पूर्ववत्) पूर्व सूत्र २५ वें में जो "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्" कह आये हैं, वही समझो, तो भी विकार की शङ्का नहीं रहती ॥ २९ ॥

३४८-प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

पदार्थः-(प्रतिषेधात्) विकार के निषेध से (च) भी ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते० इत्यादि

वेदान्तशास्त्र में उस परमात्मा के स्वरूप में से कोई कार्य उत्पन्न होना नहीं कहा, निषेध ही किया है, इस से भी जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्म का परिणाम वा उभयस्वरूपता नहीं पाई जा सकती ॥ ३० ॥

३४९-परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

पदार्थः-(सेतु-न्मान-संबन्ध-भेदव्यपदेशेभ्यः) सेतुव्यपदेश, उन्मानव्यपदेश, संबन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेश से (अतः) इस ब्रह्म से (परम्) आगे कुछ है ? ॥

४ हेतुओं से यह शङ्का उठती है कि ब्रह्म से परे भी कुछ है । १-सेतुरूप कथन से-

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः (छां० ८।४।१)

और जो आत्मा है, वह पुल है, विना स्तम्भ का ॥ इत्यादि वचनों में परमात्मा को पुल की उपमा दी है। जैसे पुल पर उतर कर नदी आदि के पार जाते हैं, वैसे यहां भी संशय होता है कि परमात्मा रूपी पुल पर उतर कर जहां पार जावेंगे वह स्थान परमात्मा से परे होगा ?

२-उन्मान के कथन से-कहीं परमात्मा को-

सोऽयमात्मा चतुष्पाद्

इत्यादि स्थलों में रुपैये पैसे इत्यादि के समान नापा हुवा कहा है, कहीं १६ कला कहा है । इस से भी संशय होता है कि वह अनन्त नहीं, उस से परे भी कुछ है ?

३-संबन्ध कथन से-

य: पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद

इत्यादि वचनों में पृथिव्यादि के भीतर परमात्मा कहा है। इस से संशय होता है कि पृथिव्यादि के बाहर परमात्मा से परे कुछ होगा? और-

४-भेद कथन से॥

(१) अथ य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषोदृश्यते॥

छां० १।६।६

(२) अथ य एषोन्तरक्षिणि पुरुषोदृश्यते॥ छां० १।७।५॥

इत्यादि वचनों में परमात्मा को सूर्य में, आंख में, अनेक स्थानों में भिन्न २ बताया है। इस प्रकार इन ४ हेतुओं से यह संशय उठता है कि वह सब से परे नहीं, उस से परे भी कुछ है तौ क्या है?॥ ३१॥ उत्तर-

३५०-सामान्यात्तु॥ ३२॥

पदार्थः-(सामान्यात्) समानता से (तु) तौ॥

१-हेतु यह था कि सेतु (पुल) की समानता बतलाई थी, उस में उत्तर यह है कि पुल के समान तौ कहा, परन्तु पुल से आगे तौ कुछ नहीं कहा। पुल की उपमा केवल १ अंश में है कि जैसे पुल पर उतरने वाले नदी समुद्रादि में डूबने से बचते हैं, वैसे परमात्मारूपी पुल के सहारे वाले संसार समुद्र में डूबने (जन्म मरण प्रवाह) से बचकर मुक्ति पाते हैं। इस से यह तात्पर्य नहीं कि जैसे पुल के पार देशान्तर है, वैसे परमात्मा से परे भी वस्त्वन्तर वा देशान्तर है॥ ३२॥ तथा-

३५१-बुद्ध्यर्थः पादवत्॥ ३३॥

पदार्थः-(पादवत्) पादसमान कथन (बुद्ध्यर्थः) समझाने के लिये है॥

इस सूत्र में दूसरे हेतु से जनित शङ्का का उत्तर है कि-चतुष्पाद् षोडशकल इत्यादि कथन समझाने मात्र को है। क्योंकि सान्त परिच्छिन्न जीवात्मा की सान्त परिमित बुद्धि में वह अनन्त अपरिमित परमात्मा आ न सकेगा, इस लिये चतुष्पादादि का कथन है। वास्तव नहीं॥ ३३॥ तथा-

३५२-स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्॥ ३४॥

पदार्थः-(स्थानविशेषात्) स्थानविशेष=ख़ास २ स्थानों के कथन से (प्रकाशादिवत्) प्रकाशादि के समान जानो॥

इस सूत्र में ३ । ४ हेतुओं का उत्तर यह है कि पृथिवी के भीतर, वायु के भीतर, आत्मा के भीतर, अथवा आंख में, सूर्य में परमात्मा का कथन भी यासा इतर पदार्थ की सत्ता का प्रमाण नहीं हो सकता । किन्तु स्थान विशेष में परमात्मा का कथन ऐसे ही है जैसे प्रकाश (रोशनी) इत्यादि का कथन । जैसे सूर्यादि के प्रकाश को बताते हैं कि थाली पर धूप है, मकान की छत पर धूप (प्रकाश) है, आंगन में धूप है, उस का यह तात्पर्य नहीं कि सूर्य से लेकर थाली, छत, आंगन के बीच में धूप नहीं, किन्तु सर्वत्र फैली हुई धूप भी स्थान विशेषों पर दिखलाई जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र व्यापक अनन्त ब्रह्म भी, पृथिव्यादि के भीतर, सूर्य में, आंख में, इत्यादि कहा गया तो यह नहीं समझना चाहिये कि उस की इयत्ता वा हद होगई, वा उस से परे कुछ है ॥ ३४ ॥ तथा—

३५३—उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(उपपत्तेः) उपपत्ति से (च) भी ॥

युक्ति से भी सेतु, उन्मान, संबन्ध और भेद के कथन का यही तात्पर्य सिद्ध होता है जो सूत्र ३२ । ३३ और ३४ में बताया गया है ॥ ३५ ॥ और—

३५४—तथाऽन्यप्रतिषेधात ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(तथा) ऐसे ही (अन्यप्रतिषेधात) अन्य के निषेध से ॥

परमात्मा से परे अन्य कुछ नहीं है, ऐसा निषेध भी अनेक स्थानों में उपस्थित है, इस से भी यह नहीं कह सके कि पुल से परे, पाद से आगे, पृथिव्यादि से बाहर, सूर्य वा आंख में भेदपूर्वक कथन से, परे कोई वस्तु या स्थान होगा ॥ ३७ ॥

३५५—अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(अनेन) इस [सूत्र ३२ । ३३ । ३४ । ३५ और ३६ के कथन] के (सर्वगतत्वम्) सर्वव्यापकता सिद्ध है (आयामशब्दादिभ्यः) फैलाव= विस्तार के बताने वाले शब्दप्रमाणादि से ॥

इस सेतु (पुल) आदि कथन के संशय पर जो उत्तर अगले ३३—३६ तक दिये गये, यह सिद्ध है कि परमात्मा से आगे कुछ नहीं, वही सर्वत्र व्यापक विभु अनन्त है । क्यों कि आयाम=व्यापकता शब्दप्रमाणादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है । यथा—

१—आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः ॥

२—ज्यायान्दिवः ॥ छां ३ । १४ । ३ ॥

३—ज्यायानाकाशात् ॥

४—नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः (गीता २। २४)

इत्यादि उपनिषद् तथा भगवद्गीतादि के प्रमाणों और युक्तियों न्यायों से उस परमात्मा का अनन्तत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वातिरेक सब सिद्ध है ॥३७॥

३५६—फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(अतः) इस परमात्मा से (फलम्) कर्मफल मिलना (उपपत्तेः) उपपत्ति से सिद्ध है ॥

शंकरभाष्य का अर्थ—जो यह इष्ट अनिष्ट और दोनों=इष्टानिष्ट मिश्रित त्रिविध कर्मफल संसार में दीखता है, प्रसिद्ध है, सो यह प्राणियों के कर्म से होता है, अथवा परमेश्वर से ? यह विचारना है। उस में प्रथम यह प्रतिपादन करते हैं कि इस ईश्वर से कर्मफल मिलना संभव है। क्यों कि उपपन्न यही है। वह ही सब का अध्यक्ष, विचित्र सृष्टि स्थिति प्रलयों का कर्त्ता, देश काल विशेष का जानकार होने से कर्म करने वालों को कर्मानुकूल फल देता है, यह उपपन्न (सिद्ध) होता है। क्षण २ में विनष्ट होने वाले कर्म से (विना ईश्वर व्यवस्था के) तो फल होना उपपन्न नहीं है। क्योंकि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता। यह कहा जायगा कि नष्ट होता होता कर्म (अपने) अनुकूल फल को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है, उसी फल को कालान्तर में कर्त्ता भोगेगा। सो भी समाधान नहीं हो सक्ता, क्यों कि भोक्ता के संबंध से पूर्व फलत्व नहीं बनता। जिस जिस काल में सुख वा दुःख को आत्मा भोगता है, तभी वह फल कहाता है। लोक में आत्मा से न भोगे जाते हुवे सुख दुःख को फल नाम से नहीं पुकारा जाता। अतएव कर्मफल ईश्वर से मिलता है ॥ ३८ ॥

३५७—श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(श्रुतत्वात्) श्रुतिप्रतिपादित होने से (च) भी ॥

न केवल युक्ति से कर्मफल ईश्वरदत्त सिद्ध होता है, प्रत्युत श्रुति भी यही कहती है। यथा—

स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः
(बृह० ४ । ४ । २४)

अर्थ—वही महान् अजन्मा यह परमात्मा भोजन और धन देने वाला है ॥ ३९ ॥

३५८—धर्मं जैमिनिरतएव ॥ ४० ॥

पदार्थः—(जैमिनिः) मीमांसादर्शनकर्त्ता जैमिनि मुनि (अतएव) इसी ईश्वर से (धर्मम्) धर्म को कारण फल का मानते हैं ॥ ४० ॥

३५९—पूर्वं तु बादरायणोहेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

पदार्थः—(बादरायणः) मैं व्यासदेव (तु) तो (पूर्वम्) [पूर्व सूत्र ३८ में] (हेतुव्यपदेशात्) हेतु=कारण कथन से कह चुका हूं ॥

आचार्य बादरायण=व्यास जी कहते हैं कि जैमिनि जो धर्म को फल-दाता कहते हैं, वह हम भी मानते हैं, परन्तु स्वतन्त्र कर्म फलप्रद नहीं, ईश्वर व्यवस्था से कर्म=धर्म का फल मिलता है ॥ ४१ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते
वेदान्तदर्शनभाषानुवादे सभाष्ये
तृतीयाऽध्यायस्य
द्वितीयः पादः
॥ २ ॥

ओ३म्

अथ तृतीयाध्यायस्य

तृतीयः पादः

३६०—सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाऽविशेषात् ॥ १ ॥

पदार्थः—(चोदनाऽविशेषात्) विधि में भेद न होने से (सर्ववेदान्त प्रत्ययम्) सब वेदान्त वाक्यों का प्रत्यय [निश्चय] एक है ॥

यह पाद इस विचार के लिये आरम्भ किया जाता है कि एक ब्रह्म की भी क्यों अनेक प्रकार से प्राप्ति कही है, इस का समाधान किया जावे ॥

यद्यपि अनेक वेदान्त शाखों (ब्रह्मप्राप्तिविधायक वाक्यों) में वाजसनेय, तैत्तिरीय, कौथुमादि शाखाओं में भेद दिखाई पड़ता है, परन्तु सब का तात्पर्य एक ही विधि ब्रह्मज्ञानप्राप्त्यर्थ यत्न करे, इतने ही में है, अतएव उपासनाभेद से भी तात्पर्य भेद नहीं ॥ १ ॥

३६१—भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

पदार्थः—(इति चेत्) यदि ऐसा कहो कि (भेदात्) भिन्न २ प्रकार के कथन से (न) सर्ववेदान्तों का तात्पर्य एक नहीं, सो (न) नहीं है क्योंकि (एकस्याम्) एक विद्या में (अपि) भी, अनेक प्रकार से प्राप्ति कही जा सकती है ॥ २ ॥

३६२—स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारे ऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(स्वाध्यायस्य) स्वाध्याय के (तथात्वेन) वैसा होने से (हि) ही (समाचारे) वेदव्रत के उपदेश ग्रन्थ में (अधिकारात्) अधिकार होने से (च) भी (तन्नियमः) उस व्रत का नियम है, (सववच्च) सवों के समान भी ॥

आथर्वणिक शाखा में यह कहा है कि—

१—तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं
विधिवद्यैस्तु चीर्णम् (मुण्ड० ३ । २ । १०)

२–नैतदऽचीर्णव्रतोऽधीते (मुण्ड० ३ । २ । ११)

अर्थात् १–उन्हीं को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे जिन्हों ने विधिपूर्वक शिरोव्रत किया हो । तथा २–जिसने व्रत नहीं किया वह इस विद्या का अध्ययन नहीं कर सक्ता ॥

इस से तौ यह पाया जाता है कि अन्य शाखा वाले जो शिरोव्रत को विधान नहीं करते, वे ब्रह्मविद्या के अधिकारी ही नहीं, तब विद्याभेद तौ हुवा ? उत्तर यह है कि उस बात का अधिकार नियम अपने ग्रन्थ में है, सार्वत्रिक नहीं । जैसे सौर्यादि शतौदन पर्यन्त ७ सव (अनुष्ठानविशेष) अन्य वेदान्तोक्त त्रेताग्नि से संबद्ध न होने से केवल आथर्वण शाखा वालों के कहे अग्नि में संबद्ध होने से उन "सवों" का नियम आथर्वणिक लोगों से ही है, अन्यों से नहीं । इसी प्रकार शिरोव्रत की आवश्यकता उस शाखा वालों में ही अधिकृत है, अन्यों में नहीं । इस से विद्याभेद नहीं, परिपाटी मात्र में भेद है ॥

जैसे आज कल एक ही विषय की शिक्षणपद्धतियों में भिन्न २ यूनिवर्सिटियों में प्रकार भेद, अधिकार भेद और ग्रन्थ भेद होने पर भी मुख्य फल में उत्तीर्ण छात्रों को फलभेद नहीं होता । ऐसे ही यह भी जानो ॥३॥

३६३–दर्शयति च ॥ ४ ॥

पदार्थः–(दर्शयति) शास्त्र दिखलाता (च) भी है ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठ २ । १५ ॥

इस में शास्त्र ने दिखलाया है कि अनेक संहिता और अनेक शाखा वाले वेद सब एक ही ओ३म् पदवाच्य ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं, सारी तपस्यायें उसी एक के लिये हैं, ब्रह्मचर्य जैसा कठिन व्रत भी उसी निमित्त है ॥

इस से पाया जाता है कि प्रकार भेद, अधिकार भेद, ग्रन्थ भेद होनेपर भी ब्रह्मविद्या में भेद नहीं समझना चाहिये ॥ ४ ॥

३६४–उपसंहारोऽर्थाऽभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

पदार्थः–(अर्थाऽभेदात्) अर्थ में भेद न होने से (उपसंहारः) सब का उपसंहार=पर्यवसान=तात्पर्य और सिद्धान्त एक है (च) और (समाने) एक ही [कर्मकाण्ड] यज्ञ में (विधिशेषवत्) भिन्न २ प्रकार अनुष्ठान के समान॥

जैसे यज्ञ एक है, पर अनुष्ठानों की रीति में भेद भी है, तौ भी तात्पर्य अर्थ एक ही है। वैसे ब्रह्मविद्या के भेदों का तात्पर्य भी एक है ॥५॥

३६५–अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाऽविशेषात् ॥ ६ ॥

पदार्थः–(इति चेत्) यदि ऐसी शङ्का हो कि (शब्दात्) शब्द प्रमाण से (अन्यथात्वं) एक का दूसरे से अन्यथा होना पाया जाता है, सो (न) नहीं, क्योंकि (अविशेषात्) तात्पर्य में अन्तर न होने से ॥

वाजसनेय शाखी लिखते हैं कि—

१–ते ह वा देवा ऊचुर्हन्ताऽसुरान्
यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति (बृ० । १ । ३ । १)

२–ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय (बृ० १ । ३ । २)

३–अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं
न उद्गायेति (बृह० १ । ३ । ७) और–

४–तद्ध देवा उद्गीथमाजग्मुरनेनैनानभि
भविष्यामः (छां० १ । २ । १)

५–अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ
मुपासांचक्रिरे (छां० १ । २ । ७)

१ प्रमाण और २ प्रमाण से आरम्भ करके वाक् आदि प्राणों की असुर-पापविद्धतारूप निन्दा आरम्भ करके ३ प्रमाण में मुख्य प्राण की प्रशंसा की है। छान्दोग्य के संख्या ४ प्रमाणद्वारा अन्य प्राणों की असुरपापविद्धतारूप निन्दा आरम्भ करके मुख्य प्राण की प्रशंसा की है। तब यहां विद्याभेद कहा गया वा एक विद्या कही गई ? साधारणतया भेद जान पड़ता है, परन्तु प्रक्रम (आरम्भवाक्य) मात्र में भेद है, पर्यवसान में नहीं। इतने भेद से

विद्याभिन्न नहीं हो जाती । किन्तु देवासुर संग्राम का उपक्रम, असुरों के नाश की इच्छा, उद्गीथ को काम में लाना, वागादि प्राणों का कीर्त्तन, उन की निन्दापूर्वक मुख्य प्राण का आश्रय, उस (प्राण) की शक्ति से असुरों का विध्वंस, इत्यादि बहुतसी बातें दोनों में समान है। इस लिये विद्या का एक होना ही विवक्षित है, भेद नहीं ॥ ६ ॥

३६६–न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

पदार्थः–(न वा) और नहीं (प्रकरणभेदात्) प्रकरण भेद से [विद्या-भेद है] (परोवरीयस्त्वादिवत्) परोवरीयस् पन के समान ॥

"स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः" छां० १। ९। २ इत्यादि वचनों में ओंकार को पर (उत्कृष्ट) और वरीयान् (अति वरणीय) कहा है। उस में वा इसी प्रकार के अन्य स्थलों में प्रकरणभेद से भी विद्याभेद नहीं है। अर्थात् न प्रकरणभेद है, न विद्याभेद है, आकाशादि का उदाहरणमात्र प्रकरणभेद नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

३६७–संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

पदार्थः–(चेत) यदि कहो कि (संज्ञातः) संज्ञाभेद से विद्याभेद हुवा, तो उत्तर यह है कि (तद् अपि) वह भी (उक्तमस्ति) कहा गया है ॥

न वा प्रकरणभेदात् इस पूर्व सूत्र में कहा हुवा है कि परोवरीयस्त्वादि के समान विद्याभेद नहीं, संज्ञा (ब्रह्मविद्या या उद्गीथविद्या) में भेद रहने पर भी, विद्या एक है, उस की संज्ञा=नाम कितने ही भिन्न २ हों ॥ ८ ॥

३६८–व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

पदार्थः–(व्याप्तेः) व्यापकता से (च) भी (समञ्जसम्) सङ्गति ठीक है॥
ओंकारोपासना वा उद्गीथोपासना इत्यादि सब में व्यापकता का वर्णन अवश्य है, इस लिये विद्याभेद का भ्रम नहीं रहता ॥ ९ ॥

प्रश्नः–अच्छा, उद्गीथविद्या में भेद न सही, प्राणविद्या में तो भेद है। जैसा कि छान्दोग्य और बृहदारण्यक में प्राणविद्या में विशिष्टत्वादि गुण कहे हैं, वैसे कौषीतकि आदि में नहीं कहे ? उत्तर–

३६९–सर्वाऽभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

पदार्थः—(सर्वाभेदात्) सब में भेदाऽभाव से (अन्यत्र) एक से दूसरे में (इमे) ये विशेषण लगा लेने चाहियें ॥

सब में परस्पर भेद या विरोध नहीं है, तब जो विशिष्टत्वादिगुण छान्दोग्य या बृहदारण्यक में कहे हैं और अन्यत्र कौषीतक्यादि में नहीं कहे तौ जहां नहीं कहे वहां भी समझ लेने चाहियें, क्योंकि सब में भेद कथन स्पष्ट नहीं है, तब अभेद करके व्याख्या कर लेनी चाहिये ॥ १० ॥

३७०—आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

पदार्थः—(प्रधानस्य) मुख्य परमात्मा के (आनन्दादयः) आनन्दस्वरूपत्वादि गुण हैं ॥

जैसे कहीं परमात्मा को आनन्दस्वरूप, कहीं सर्वज्ञ, कहीं विज्ञानघन, कहीं अन्तर्यामी कहा गया है, तौ इस से विद्याभेद नहीं समझा जाता, प्रत्युत यही समझा जाता है कि जहां आनन्दादि गुणों में से कोई एक गुण कहा गया है, वहां भी अनुक्त अन्य अनेक गुणों का समन्वय है ॥

इस सूत्र में तौ निम्बार्की और शङ्कराचार्य आदि सभी भाष्यकार 'प्रधान' शब्द को प्रकृतिवाचक न मानकर परमात्मवाचक या ब्रह्मवाचक ही लगाते हैं॥११॥

३७१—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

पदार्थः—(प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः) प्रिय शिर होने आदि धर्मों की प्राप्ति नहीं (हि) क्योंकि (भेदे) अवयव भेद मानने पर (उपचयाऽपचयौ) बढ़ना घटना भी मानना पड़ेगा [जो विरुद्ध है] ॥

तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः,
प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा० ॥ तैत्ति० २।५।१

इत्यादि वचनों में जो प्रिय को शिर, मोद को दाहिना पंख, प्रमोद का बायां पंख, आनन्द को आत्मा, इत्यादि कथन किया है, सो सर्वत्र अनुगत नहीं हो सकता, क्योंकि शिर आदि अङ्ग भेद वास्तविक नहीं, कल्पित वा आरोपित हैं, स्वरूपगत नहीं ॥ १२ ॥ परन्तु—

३७२—इतरे त्वर्थसामर्थ्यात् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(इतरे) अन्य सर्वव्यापक, विज्ञानमय, आनन्दमय, इत्यादि गुण (तु) तौ (अर्थसामर्थ्यात्) अर्थ=परमात्मा के समर्थ=संगत होने से अनुगत समझने चाहियें ॥ १३ ॥

३७३—आध्यानाय प्रयोजनाऽभावात् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(आध्यानाय) भले प्रकार समझ में आने के लिये है, (प्रयोजनाभावात) अन्य प्रयोजन न होने से ॥

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १ ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥

कठोपनिषद् ३ । १०—११ ॥

इस में जो एक से पर=सूक्ष्म दूसरे को कहते २ सब से परम सूक्ष्म पुरुष परमात्मा को कहा है, यहां एक विद्या कैसे कह सकते हैं, मन बुद्धि आदि अनेक विद्या हैं? ब्रह्मविद्या मात्र एक नहीं । उत्तर—(आध्यानाय) एक से दूसरे की सूक्ष्मता कहते २ भले प्रकार परमात्मा की सूक्ष्मता समझ में आ जाने के लिये अन्य इन्द्रियादि का कथन है, अन्य कुछ प्रयोजन नहीं । प्रयोजन तो केवल परमात्मस्वरूप के समझाने का है, अतएव ब्रह्मविद्या ही है, विद्याभेद नहीं ॥ १४ ॥

३७४—आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

पदार्थः—(आत्मशब्दात्) आत्मा शब्द के होने से (च) भी ॥

इस प्रकरण में आगे ही आत्मा शब्द भी स्पष्ट पढ़ा है, जो परमात्मा की ही खोज के लिये है, जैसा कि—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १॥

कठोपनिषद् ३ । १२

इस में गूढ आत्मा अदृश्य का दर्शन सूक्ष्म बुद्धि (जीवात्मा की ज्ञान शक्ति) से ही सकना स्पष्ट कहा है । इस से भी विषयभूत एक ब्रह्मविद्या ही है, अन्य कुछ नहीं ॥ १५ ॥

३७५—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(आत्मगृहीतिः) आत्मा का ग्रहण है (इतरवत्) जैसे अन्यत्र वैसे (उत्तरात्) उत्तर से॥

आत्मा वा इदमेक एवाग्रआसीत (ऐत० १ । १)

यहां आत्मा शब्द से जीवात्मा का ग्रहण है वा परमात्मा का ? उत्तर—परमात्मा का। जैसे इतर वाक्यों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रकरण में परमात्मा का ग्रहण है, वैसे यहां भी। उत्तर वाक्य से यही पाया जाता है। उत्तर=अग्रिम वाक्य यह है—

स इमाँल्लोकानसृजत (ऐत० १ । २)

उस ने इन लोकों को रचा। इस से सृष्टि की उत्पत्ति का प्रकरण पाया जाता है॥ १६॥

३७६—अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (अन्वयात्) अन्वय से, तो भी (स्यात्) हो जायगा क्योंकि (अवधारणात्) अवधारण कहने से॥

यदि कहो कि परमात्मा में जीवात्मा का भी अन्वय है, व्याप्य होने से। तब जीवात्मा का ही ग्रहण क्यों न करलें, तो उत्तर यह है कि (एव) शब्द वहां अवधारणार्थ (केवल परमात्मा के निश्चयार्थ) पड़ा है, इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण है॥ १७॥

३७७—कार्याख्यानादऽपूर्वम् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(कार्याख्यानात्) कार्य के व्याख्यान से (अपूर्वम्) अपूर्व=नवीन है॥

यदि कहो कि परमात्मा जब अपूर्व जगत् को नहीं रचता किन्तु जगत् का कारण तो वर्त्तमान ही रहता है, तब उस का जगत्कर्त्तापना क्या है ? उस का कर्तृत्व ही क्या है, जब अपूर्व जगत् को तो रचता ही नहीं ? उत्तर—कारण से कार्यावस्था में लाना ही अपूर्वता है॥

इस सूत्र पर हमनें प्रकरणानुकूल यह अपना नया अर्थ किया है, आशा है कि इस को साहस न बताया जायगा। शंकराचार्य भाष्य, श्री गोविन्दानन्द कृत रत्नप्रभा, वाचस्पति कृत भामती, आनन्दगिरि कृत न्यायनिर्णय, निम्बार्क संप्रदायानुगामी औडुलोमि प्रणीत वेदान्तसूत्रवृत्ति, निम्बार्काचार्य प्रणीत वेदान्तपारिजातसौरभ, श्री निवासाचार्य कृत वेदान्तकौस्तुभ,

केशव काश्मीरी भट्टाचार्यकृत कौस्तुभप्रभा इत्यादि सभी भाष्य और वृत्तिकारों ने यद्यपि इस के भाष्य करते वा भाष्यों पर वृत्तियें लिखते हुवे कहा है कि—

तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदन्नमनग्नं कुर्वन्तोमन्यन्ते (बृ०६।१।१४)

इस को जानने वाले वेदधर्मानुयायी श्रोत्रिय वेदपाठी लोग भोजन से पूर्व और पश्चात् दोनों अवसरों पर आचमन करते हैं, इस से वे मानते हैं कि हम भोजन किये अन्न को नंगा नहीं रखते, किन्तु उस को जल रूप वस्त्र पहनाते हैं ॥

यह उद्धरण रखकर सभी कहते हैं कि इस में अपूर्व क्या है, प्राण विद्या वा अर्थवाद मात्र वा आचमन की आज्ञा ? उत्तर अपनी २ मति से प्रायः भिन्न २ देते हैं, परन्तु उद्धरण सब का यही है, किन्तु हम तो इन सब से निराला परन्तु ब्रह्मविद्या के प्रकरणानुकूल ऊपर लिखा व्याख्यान ही ठीक समझते हैं। यहां आचमन का विचार किसी प्रकार प्रयोजनीय नहीं जंचता॥१८॥

३७८—समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

पदार्थः—(एवं) इस प्रकार (च) भी (अभेदात्) भेद न होने से (समानः) समान उपदेश है ॥

वाजसनेयि शाखा में अग्निरहस्य विद्या का दूसरा नाम शाण्डिल्यविद्या है। वहां परमात्मा के ये गुण सुने जाते हैं:—

स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम् । इत्यादि ॥

अर्थ—वह आत्मा की उपासना करे—जो मनोमय, प्राणशरीर, भारूप= प्रकाशरूप है। इत्यादि ॥

फिर वाजसनेयि शाखा के ही बृहदारण्यक में यह पढ़ा जाता है कि—

मनोमयोऽयं पुरुषोभाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा ब्रीहिर्वा यवो वा स एष

सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं
प्रशास्ति यदिदं किं च ॥ बृह० ५ । ६ । १॥

यह पुरुष मनोमय, प्रकाशरूप, सत्यस्वरूप है, इस के हृदय के भीतर जैसे चावल के वा जौ के छुलके से ढकी "गिरी" वैसे यह (परमात्मा) है, जो सब का स्वामी, सब का अधिष्ठाता, इस सब (जगत्) का शासन करता है, जो कुछ भी यह है ॥

इस में संशय यह है कि क्या यह एक ही विद्या अग्निरहस्य और बृहदारण्यक में कही गई है, अथवा भिन्न २ दो विद्यायें? और गुणों का उपसंहार भी नहीं है? प्रतीत तो ऐसा होता है कि दो भिन्न २ विद्यायें हैं, और गुणों में भी व्यवस्था (विकल्प) है। क्योंकि एक विद्या होती तो पुनरुक्ति क्यों करते? भिन्न भिन्न शाखों में तो गुरुभेद शिष्यभेद से पुनरुक्ति दोष न रहता, और एक ही विद्या ठीक कही जा सकती, एक जगह अतिरिक्त गुण और दूसरी जगह उपसंहृत समझे जाते, परन्तु एक ही वाजसनेयि शाखा में पढ़ने पढ़ाने वाले भिन्न २ नहीं हैं, तब पुनरुक्ति दोष दूर नहीं हो सकता, तब समीप ही उपदेश की हुई एक विद्या नहीं समझ पड़ती, या तो विद्याभेद मानो, नहीं तो पुनरुक्ति दोष का निवारण नहीं होगा । और यह भी समाधान नहीं हो सकता कि एक जगह विद्या का विधान है, दूसरी जगह गुणों का वर्णन है । क्योंकि तब तो एक समान गुण दोनों जगह न कहने चाहिये थे, और मनोमयत्वादि गुण दोनों जगह समान भी कहे गये हैं, इस लिये यह भी नहीं कह सकते कि एक दूसरे पाठों ने गुणों का उपसंहार किया हो?

उत्तर—जैसे भिन्न २ शाखाओं में विद्या की एकता और गुणों का उपसंहार होता है, वैसे ही एक शाखा में भी हो सकता है, क्योंकि "उपास्य (परमात्मा) तो भिन्न २ नहीं, दोनों में एक समान है।" यह उत्तर इस सूत्र का अर्थ है ॥ १९ ॥

३७९—सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

पदार्थः—(एवं) इसी प्रकार (अन्यत्र) अन्य समानशाखोक्त वा भिन्न शाखोक्त विद्याओं में (अपि) भी (सम्बन्धात्) संबन्ध से जानो ॥

उपास्य उपासक संबन्ध जहां २ एक है, वहां २ सर्वत्र अन्यत्र भी ऐसे ही

समाधान जानों, जैसे पूर्व सूत्र की व्याख्या में वाजसनेयि शाखोक्त अभेद दर्शाया गया ॥ २० ॥ और—

३८०—न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(विशेषात) विशेष=भेदपूर्वक कहने से भी (न वा) विद्या भेद नहीं ॥

कहीं सूर्यमण्डल में पुरुष (बृहदारण्यक ५ । ५ । ३) कहा है, कहीं दक्षिण आंख में पुरुष (बृहदारण्यक ५ । ५ । ४) कहा है, ऐसे २ विशेष कथनों में तो विद्याभेद ही रहेगा ? उत्तर-(न वा) नहीं । क्योंकि कहीं इस ब्रह्माण्ड में से एक स्थान (सूर्य) का निर्देश है, कहीं इस शरीर में से एक देश (आंख) का निर्देश है, परन्तु बताई गई है—एक ब्रह्मविद्या ही ॥२१॥ तथा च—

३८१—दर्शयति च ॥ २२ ॥

पदार्थः—(च) और (दर्शयति) शास्त्र दर्शाता भी है ॥

तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम् (छान्दो० १ । ७ । ५)

एकत्र वर्णित परमात्मा का स्वरूप जो है, वही अन्यत्र वर्णित का है, भिन्न भिन्न दो वा अधिक प्रकार का नहीं ॥ २२ ॥

३८२—संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

पदार्थः—(संभृतिद्युव्याप्ति) सर्व संभारों का धारण पोषण और आकाश [दिव्] में व्यापक होना (अपि) भी (अतः) इस से सिद्ध है ॥

आदित्यमण्डल में ब्रह्म को बताने से द्युलोकव्यापकत्व और आंख में बताने से छोटी से छोटी वस्तु में रह कर उस का भरण पोषण परमात्मा करता है, यह भी सूचित है ॥ २३ ॥

३८३—पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामानाम्नानात् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(पुरुषविद्यायाम्) पुरुषविद्या के (इव) समान (इतरेषाम्) अन्यों का (अनाम्नानात्) आम्नाय न किया होने से (च) भी ॥

जैसे पुरुषविद्या में पुरुष को यज्ञ रूप कल्पना करके कथन है । यह ताण्ड्य शाखी और पिङ्ग शाखियों के ब्राह्मणों में पुरुषविद्या कही गई है । वहां पुरुष की आयु के ३ विभाग करके ३ सवन कल्पित किये हैं । और भूख प्यास आदि को यज्ञ की दीक्षा इत्यादि कल्पित किया है । अन्य आशीर्मन्त्रप्रयोगादि यज्ञ की बातें भी पुरुष में कल्पित की हैं । तैत्तिरीय

शाखी भी इसी प्रकार किसी पुरुष को यज्ञ रूप में कल्पित करते हैं कि-

तस्यैवंविदुषोयज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी (नारा० ८०)

उस पुरुष यज्ञ का आत्मा यजमान है, श्रद्धा यजमान की स्त्री=पत्नी है। इत्यादि ॥

इस में संशय यह था कि पुरुष यज्ञ के जो २ धर्म एक जगह कहे हैं, क्या उसी यज्ञ पुरुष के अन्य धर्मों का उपसंहार दूसरी जगह किया गया समझें, वा अन्य कुछ ? उत्तर यह है कि उपसंहार नहीं है। क्योंकि दोनों जगह भिन्न २ प्रकार की कल्पना हैं। एक ने दूसरे का स्मरण करते हुवे निरूपण नहीं किया, वैसे ब्रह्मविद्या में एक का दूसरे वर्णन से भेद नहीं है ॥

पुरुष यज्ञ (कल्पित) में एक सी कल्पना वा एक की कल्पना भी नहीं पाई जाती; एक ने पत्नी, यजमान, वेद, वेदि, कुश, यूप, आज्य इत्यादि की कल्पना दिखाई है, तो दूसरे ने वैसी ही ठीक कल्पना नहीं की। हां, सवन तीनों तो दोनों जगह कल्पित किये हैं, परन्तु वे भी भेद से कहे हैं, और जो थोड़ी बहुत समानता भी मरण=अवभृथस्नान इत्यादि पाई जाती है, इस किंचिन्मात्र समानता से एकता नहीं हो सक्ती, परन्तु ब्रह्मविद्या में ऐसा कल्पनाभेद भी नहीं किया गया ॥ २४ ॥

३८४-वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

पदार्थः-(वेधादि) वेधादि का कथन (अर्थभेदात्) भिन्नार्थ होने से है ॥

ब्रह्मविद्यापरक वेदान्त शास्त्र में (उपनिषदादि में) वेध आदि अनेक प्रकार से प्रार्थना और कर्म भी कहे गये हैं, क्या वे भी ब्रह्मविद्या का कोई अङ्ग हैं ? उत्तर-नहीं, क्योंकि उन का अर्थ=तात्पर्य भिन्न है, ब्रह्मविद्यापरक नहीं ॥ जैसे-

१-अथर्ववेदी लोग उपनिषद् के आरम्भ में पढ़ते हैं कि-

अग्ने त्वं यातुधानस्य भिन्धि तं प्रत्यञ्च मर्चिषा विध्य मर्माति सर्वं प्रविध्य, हृदयं प्रविध्य, धमनीः प्रवृञ्ज, शिरोऽभिप्रवृञ्जेत्यादि ॥

अर्थ-अग्ने ! तू राक्षस को विदीर्ण कर, उस को तिरछा करके लपट से मर्म ताडित कर, सब को ताडित कर, हृदय को ताडित कर, नाड़ियों को तोड़, शिर को तोड़ इत्यादि। (किसी पुस्तक में प्रवृञ्ज=प्रवृज्य पाठ है) ॥

२—ताण्ड्य शाखी पढ़ते हैं कि—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिम् इत्यादि ॥

अर्थ—हे सवितर्देव ! यज्ञ और यजमान को बढ़ाओ ॥

३-४—कठ और तैत्तिरीय शाखा वाले पढ़ते हैं कि—

शं नोमित्रः शं वरुणः शन्नोभवत्वर्यमा (तै० १। १। १)

अर्थः—मित्र वरुण और अर्यमा हमारा कल्याण करे ॥

इस प्रकार भिन्न २ उपनिषदों का प्रारम्भ भिन्न २ प्रार्थनाओं के साथ देखा जाता है, इस अर्थभेद से वे २ वचन ब्रह्मविद्या का अङ्ग नहीं, किन्तु विघ्ननिवारणार्थ स्वस्वरुचि के अनुसार प्रार्थना हैं ॥ २५ ॥

३८५—हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशा छन्दः स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(हानौ) हानि में (तु) तौ (उपायनशब्दशेषत्वात) उपायन शब्द का शय होने से, (तदुक्तम्) वह कहा गया समझो (कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवत) कुशा, छन्द, स्तुति और उपगान के समान ॥

विचार यह है कि मुक्ति के अधिकारी ज्ञानी पुरुष के सुकृत दुष्कृतों की हानि में दो बातें उपनिषदादि में कही हैं । १—यह कि उस के सुकर्म दुष्कर्म हीन (त्यक्त) हो जाते हैं, २—यह कि उस के सुकर्म मित्रों की भेंट (उपायन) चढ़ जाते हैं और दुष्कर्म शत्रुओं की भेंट हो जाते हैं । जैसा कि—

१—तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय० इत्यादि

आथर्वणोपनिषद् वाले पढ़ते हैं ॥

२—सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्०

यह शाट्यायनी पढ़ते हैं ॥

इस सूत्र में निर्णय किया गया है कि जिन २ वचनों में वा ग्रन्थों में पुण्य पाप की हानि कही गई है, परन्तु वे पुण्य पाप कहां जाते हैं, यह स्पष्ट नहीं कहा, वहां २ भी हानि अर्थ में उपायन शब्दार्थ को (शब्दशेष) अन्तर्गत वा अनुगत समझो । इस में ४ चार दृष्टान्त हैं ॥

१—जैसे कुशा का कथन । भाल्लवी पढ़ते हैं कि—"कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात" इस में केवल वनस्पति की कुशा कही है, वनस्पति विशेष की

नहीं, तौ भी वानस्पत्य शब्द शेष से शाट्यायनी लोगों के अन्यत्रोक "औदुम्बराः कुशाः" इत्यादि से उदुम्बर=गूलर की कुशों की अनुवृत्ति करके अर्थ पूरा करते हैं ॥

२—छन्द का कथन। "छन्दोभिः स्तुवीत" इस वाक्य में सामान्य कथन छन्दोमात्र का है, परन्तु अन्यत्रोक्त पैङ्गीवाक्य "देवच्छन्दांसि पूर्वाणि" इस में के देवपद की अनुवृत्ति करके छन्द के साथ देवच्छन्द जोड़कर अर्थ पूरा करते हैं ॥

३—जैसे स्तुति में। "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" इत्यादि में स्तुति का काल विशेष नहीं कहा, तौ भी अन्यत्रोक्त "समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" इत्यादि से काल विशेष की अनुवृत्ति करके अर्थ पूरा करते हैं ॥

४—जैसे—उपगान। एक शाखा वाले पढ़ते हैं कि—"ऋत्विज उपगायन्ति" परन्तु दूसरी शाखा वालों के अन्यत्रोक्त "नाध्वर्युरुपगायति" की अनुवृत्ति करके अर्थ पूरा करते हैं कि "अध्वर्युव्यतिरिक्ता ऋत्विज उपगायन्तीत्यर्थः"॥

इस में एक शङ्का यह भी होगी कि मुक्ति के अधिकारी ज्ञानी पुरुष के पाप पुण्य अन्यों को लग जाना तौ बड़ा अनर्थ है। इस का उत्तर शङ्कराचार्य जी इस प्रकार देते हैं कि "तु" शब्द के उच्चारण से जाना जाता है कि ज्ञान की प्रशंसामात्र में तात्पर्य है, वास्तविक किसी को किसी का पाप पुण्य नहीं लगता। यथा—

> विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य,
> कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते
> इति नाऽतीवाभिनिवेष्टव्यम् ॥ (शं०भा०) ॥ २६ ॥

प्रश्नः—मुक्ति को प्राप्त होने वाले पुरुष के पाप पुण्य कर्मों का त्याग मरण मात्र पर हो जाता है वा विरजा नदी को पार करके मार्ग में? उत्तर मार्ग में विरजा नदी आदि तरने के कोई जलाशय नहीं हैं। अतएव देह त्याग के साथ ही कर्मत्याग समझो। यथा—

३८६—साम्पराये तर्त्तव्याऽभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

पदार्थः—(साम्पराये) परलोकगमन में (तर्त्तव्याऽभावात्) तिरने की नदी आदि न होने से (अन्ये) अन्य लोग भी (तथाहि) ऐसा ही पढ़ते हैं ॥

कौषीतकी शाखा १ । ४ में पढ़ते हैं कि—

स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृत दुष्कृते विधूनुते० ॥

तब वह विरजा नदी पर आता है और उस नदी को मन (ज्ञान) से पार करके तब पुण्य पाप को पखालता है ॥

इस पर सूत्र कहता है कि मार्ग में कोई तरने को नदी आदि नहीं है, यह कौषीतकी में कहा नदीकथन कल्पना मात्र, ज्ञानगङ्गा के समान विरजा=निर्मला नदी है, इसी लिये उस को तरने में भी नौका की आवश्यकता नहीं, किन्तु मन=ज्ञान से ही तरना कहा है, सो जैसा अन्य शाखा वाले ज्ञान मात्र से पाप पुण्य का छुटकारा मानते हैं, वैसा ही कौषीतकी का तात्पर्य समझो ॥ २७ ॥

३८७—छन्दत उभयाऽविरोधात् ॥ २८ ॥

पदार्थः—(छन्दतः) स्वतन्त्रता से (उभयाऽविरोधात्) दोनों का विरोध न रहने से ॥

स्वतन्त्रता से पाप पुण्य का त्याग मानने से आथर्वणी और शाट्यायनी दोनों श्रुतियों का विरोध नहीं रहता इस लिये यही मानना ठीक है कि स्वतन्त्रता से मुक्ति का अधिकारी पाप पुण्य के फलों का त्याग कर सक्ता है ॥२८॥

३८८—गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥२९॥

पदार्थः—(गतेः) मुक्तिरूप सद्गति की (अर्थवत्त्वम्) सार्थकता (उभयथा) दोनों प्रकार से हैं । (अन्यथा) नहीं तो (हि) निश्चय (विरोधः) विरोध है ॥

कोई कहते हैं कि ज्ञान से मुक्ति है, कोई कर्मोपासना से । इस पर सूत्र कहता है कि दोनों ही से मुक्ति की सार्थकता होगी । यदि केवल कर्मोपासना से होवे तो—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ॥

केवल अविद्या=कर्मोपासना से अन्धकार प्रवेश है । तथा यदि केवल ज्ञान से होवे तो—

ततोभूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬ रताः ॥

जो केवल विद्या=ज्ञान में रमें रहते हैं वे उस से अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इस लिये (उभयथा) दोनों (१ कर्मोपासना २ ज्ञान) से ही मुक्ति सार्थक होगी। जैसा कि–

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

विद्या=ज्ञान और अविद्या=कर्मोपासना (उभय) को साथ जानने से सब काम पूरा हो जाता है अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु पर विजय लाभ और ज्ञान से ब्रह्मानन्द लाभ होता है। अन्यथा दोनों में एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग करें तो उक्त वेदवचनादि से विरोध रहेगा॥ २९॥

३८९–उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्॥ ३०॥

पदार्थः–(तल्लक्षणार्थोपलब्धेः) इस प्रकार के अर्थ की उपलब्धि से (उपपन्नः) पूर्व सूत्रोक्त उभयथावाद सिद्ध है (लोकवत्) जैसे लोक में गन्तव्य स्थान का ज्ञान और गन्तव्यस्थानप्राप्ति का यत्न दोनों ही को करने वाला स्वाभिमत फल को पाता है। न तो केवल गन्तव्यस्थान को ज्ञान मात्र वाला पाता, और न केवल यत्न मात्र करने वाला, जिसे गन्तव्यस्थान का ज्ञान न हो॥ ३०॥

३९०–अनियमः सर्वासामविरोधः
शब्दानुमानाभ्याम्॥ ३१॥

पदार्थः–(शब्दानुमानाभ्याम्) शब्द प्रमाण और अनुमान से (सर्वासाम्) सब श्रुतियों का (अविरोधः) परस्पर विरोध नहीं, किन्तु (अनियमः) सर्वत्र [दोनों बात कहने का] नियम नहीं है॥

यह नियम नहीं है कि सर्वत्र ज्ञान और कर्म दोनों को मुक्ति का साधन कहा जाय, किन्तु जहां एक कहा है वहां दूसरा भी समझना चाहिये, इस प्रकार सब का परस्पर विरोध नहीं, यह शब्द प्रमाण और तर्क से भी सूत्र २९ के अनुसार समझो॥ ३१॥

३९१–यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्॥३२॥

पदार्थः–(आधिकारिकाणाम्) मुक्ति के अधिकारियों की (अवस्थितिः)

मुक्ति पद पर स्थिति (यावदधिकारम्) जब तक मुक्ति का अधिकार है, तब तक होती है ॥

शङ्कर भाष्य में व्यास, वसिष्ठ, भृगु, सनत्कुमार, दक्ष, नारद आदि अनेक मुक्तों का पुनर्जन्म बताया गया है, परन्तु भेद केवल इतना है कि शङ्कराचार्य कहते हैं कि ये सब मुक्ति पाकर फिर नहीं जन्मे, किन्तु मुक्ति के अधिकारी ज्ञान पाकर हो गये, तौ भी जब तक परमेश्वर ने चाहा इन को जगत् की भलाई का अधिकार देकर मुक्ति से रोके रक्खा, जन्म मरण दिये। परन्तु हम कहते हैं कि ज्ञान के उदय से जब मुक्ति के अधिकारी (हक़दार) होगये तब उन की मुक्ति को रोके रखना, स्तब्ध करना, मुलतवी रखना परमेश्वर का न्याय कैसा होगा, तथा कारण विना जन्म हो कैसे सक्ता है। अपुनरावृत्तिवादी मुक्ति के अनन्तर जन्म का कारण कर्म न होने से जन्म कैसे होगा, इस पर तो आकाश को शिर पर उठा लेते हैं, परन्तु भाष्योक्त मुक्ति के अधिकारी व्यासादि की मुक्ति का स्तम्भ (मुलतवी रखना) न जाने क्यों चुप चाप सह जाते हैं। यह सूत्र स्पष्ट मुक्ति की अवधि मानता है ॥३२॥

३९२–अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्य तद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः–(अक्षरधियां) अक्षरोपासनाबुद्धियों का (तु) तौ (अवरोधः) संग्रह कर लेना चाहिये। क्योंकि (सामान्यतद्भावाभ्याम्) निषेधों की समानता और ब्रह्म के भाव कथन से, (औपसदवत) उपसदों के कथन के समान (तदुक्तम्) [मीमांसा में] यह कहा गया है ॥

बृहदारण्यक ३ । ८ । ८ में कहा है कि–

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्० ॥

हे गार्गि ! उस अक्षर=अविनाशी ब्रह्म को ब्राह्मण कहते हैं कि स्थूल नहीं, अणु नहीं, छोटा नहीं, बड़ा (लम्बा) नहीं, लाल नहीं, चिकना नहीं, इत्यादि ॥

इसी प्रकार अथर्ववेदीय मुण्डक १ । १ । ५ में कहा है कि–

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्० ॥

आगे परा (विद्या) है, जिस से वह अक्षर=अविनाशी ब्रह्म जाना जाता है, जो न दीख सकता, न पकड़ा जा सकता, न उस में गांठ है=एक रस है, न रङ्ग है । इत्यादि ॥

अब विचार यह है कि अनणु अदीर्घ आदि जितने विशेषण एक स्थान में कहे हैं, यदि अन्यत्र उन में से न्यून वा अधिक कहे हों तौ जो जहां नहीं कहे गये, वहां भी वे कहे समझने चाहियें, वा नहीं ? यह सूत्र उत्तर देता है कि अक्षरविषयक विद्याओं में (अवरोधः) अनुक्त का भी उपसंग्रह कर लेना चाहिये । क्योंकि जो २ निषेध हैं वे जितने जहां कहे हैं, उतने सर्वत्र समान हैं, इस १ सामान्य हेतु से । और २–तद्भाव अर्थात् ब्रह्म के भाव का सर्वत्र निरूपण है, इस हेतु से भी । दृष्टान्त–जैसे जमदग्नि के अहीन चतूरात्र क्रतु में सामवेदोक्त " अग्नेर्वेहोंत्रम् वेरध्वरम् " इत्यादि का प्रयोग पुरोडाश वाली उपसदों में अध्वर्यु करता है और तब अनुक्त भी यजुर्वेद के स्वर से पढ़ता है । यह वात मीमांसा दर्शन में कही भी है कि–

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्
मुख्येन वेदसंयोगः ॥ मी० ३।३।८॥

गौण और मुख्य के विरोध में जो जिस का कर्म है, उसी के लिये वह कर्म होने से मुख्य के साथ ही वेद का संयोग होना चाहिये । इस नियमानुसार पुरोडाशप्रदान क्योंकि अध्वर्यु=यजुर्वेदी ऋत्विज् का कर्म है, इस लिये वह अपने वेद (यजुः) के उपांशु स्वर से ही जो सामवेद के उच्चारण में विहित नहीं, उस से ही उच्चारण करता है ॥ ३३ ॥

प्रश्न–" द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया० " मुं० ३।१।१ और " ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके०" कठोप० ३।१ इत्यादि में जीवात्मा परमात्मा दो तो कहे हैं, परन्तु दोनों समान एक ही शब्द के द्विवचन से कहे गये हैं, जैसे–सुपर्णौ, सयुजौ, सखायौ, पिबन्तौ, इत्यादि; तव जीव को परिच्छिन्न क्यों माना जावे, वह भी ब्रह्म के समान है ? उत्तर–

३९३–इयदामननात् ॥ ३४ ॥

पदार्थः–(इयदामननात्) इयत्ता=परिच्छेद=अणुत्व का शास्त्र में आमनन होने से ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ॥ मुं० ३।८

अर्थ–यह आत्मा चित्त से जानना चाहिये कि अणु=इयत्तापरिच्छिन्न है, जिस में ५ प्रकार से प्राण साथ लग गया है ॥

इत्यादि आमनन से कुछेक समान विशेषण वाले भी जीवात्मा परमात्मा में अणुत्व विभुत्व का भेद अवश्य है और यह भेद जहां नहीं कहा वहां भी अन्यत्रोक्त का संग्रह कर लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

३९४–अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

पदार्थः–(भूतग्रामवत्) अन्य भूतसमूह के समान (स्वात्मनः) आत्मा=जीवात्मा के स्वरूप के भी (अन्तरा) भीतर परमात्मा कहा है ॥

इस से जीवात्मा व्याप्य और परमात्मा व्यापक हुवा ॥ ३५ ॥

३९५–अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति
चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

पदार्थः–(अन्यथा) और किसी प्रकार से (भेदानुपपत्तिः) भेद सिद्ध नहीं होता (इति) ऐसा (चेत्) यदि कहो, सो भी (न) नहीं, क्योंकि (उपदेशान्तरवत्) अन्य उपदेशों के समान ॥

यह भी नहीं कह सक्ते कि एक ही प्रकार से भेद उपपन्न होता है, अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि अन्य अनेक उपदेश भी भेद सिद्ध करने को बहुतेरे हैं। जैसे–

१–द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०
२–अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः
३–द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
४–ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥
५–उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

इत्यादि अन्य शतशः उपदेशों के समान यह सूत्र ३४। ३५ का भी भेद कथन है ॥

निम्बार्की भाष्यकार—औडुलोमि, निम्बार्काचार्य, श्रीनिवासाचार्य, केशव काश्मीरि भट्टाचार्य, इत्यादि ने सूत्र ३५ । ३६ को एक करके=३५ का ही व्याख्यान किया है । परन्तु शंकरभाष्यानुसार हमने तो ३५ । ३६ दो पृथक् २ सूत्र मान कर भी भाष्य किया है ॥ ३६ ॥

३९६—व्यतिहारोविशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(हि) क्योंकि (इतरवत्) एक दूसरे से भिन्न की रीति से (विशिंषन्ति) शास्त्रकार विशेषण करते हैं, इस कारण (व्यतिहारः) अदला बदली का कथन संगत है ॥

ऐतरेयी लोग पढ़ते हैं कि—

१—तद्योऽहं सोऽसौ,योऽसौ सोऽहम् ॥

अर्थ—जो मैं हूं, सो वह है और जो वह है सो मैं हूं ॥

२—त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि ॥

अर्थ-हे भगवन् ! तू मैं हूं और मैं तू । इस प्रकार जाबाल लोग पढ़ते हैं । इस में तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यों में दोनों का भेद वास्तविक होते हुवे भी एकता=अविरोध प्रकट करने को व्यतिहार का कथन है । ऐसे विशेषण एक दूसरे के अविरोध में लोक में भी हुवा ही करते हैं ॥ ३७ ॥

३९७—सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(सा) वह ब्रह्मविद्या (एव) ही है, क्योंकि (सत्यादयः) सत्यादि विशेषण हैं ॥

बृहदारण्यक ५ । ४ । १ में कहा है कि—

तद्वैतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं
महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म ॥

यहां ब्रह्मविद्या का प्रकरण है, वा अन्य का ? सूत्र उत्तर देता है कि यहां "सत्य" आदि जो विशेषण हैं, वे ब्रह्म के हैं, अतएव (सैव) वही=ब्रह्मविद्या ही प्रकरण में जानो ॥ ३८ ॥

३९८—कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

पदार्थः-(आयतनादिभ्यः) आयतन आदि शब्दों की समानतारूप हेतुओं से (कामादि) सत्यकाम सत्यसंकल्पादि विशेषण (तत्र) वहां छान्दोग्य में (च) और (इतरत्र) अन्यत्र बृहदारण्यक में भी हैं ॥

छान्दोग्य ८ । १ । ५ में कहा है कि-

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि-घत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥

इत्यादि में पूर्व छां० ८ । १ । १ से प्रकरण आत्मा का है कि-

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ॥

इस प्रकार प्रकरण में हृदयदेश में आत्मा के साक्षात्कार का प्रकरण है। यहां जो सत्यकाम सत्यसंकल्पादि गुण आत्मा के कहे हैं, वैसे वे सब गुण बृहदारण्यक ४ । ४ । २२ में भी-

स वा एष महानज आत्मा योयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी ॥

कहा है। जो विशेषण एक स्थान में एक दूसरे (छान्दो० और बृह०) से न्यूनाधिक भी कहे हैं, वे अनुक्त भी एक दूसरे में अनुगत समझने चाहियें ॥

छान्दोग्य वाक्यों का अर्थ-यह परमात्मा निष्पाप अजर अमर विशोक भूखप्यासरहित सत्यकाम सत्यसंकल्प है ॥

और जो यह इस ब्रह्मपुर में कमल दहर स्थान है इस में भीतर दहराकाश (परमात्मा) है ॥

बृहदारण्यक का अर्थ-सो वह आत्मा महान् अजन्मा है, जो विज्ञानस्वरूप है, जो प्राणों में, हृदय के भीतर आकाश में विराजमान है, जो सर्व को वश करने वाला है ॥

यदि कहो कि एक वाक्य (छान्दोग्य) में दहराकाश का वर्णन है, दूसरे बृहदारण्यक में आकाश के भीतर रहने वाले आत्मा का, तब एक विद्या कैसे हुई ? तो उत्तर-पूर्व सूत्र १ । ३ । १४ में दहर नाम परमात्मा का बता आये हैं। अतएव प्रश्न को अवकाश नहीं ॥ ३९ ॥

३९९—आदरादलोपः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(आदरात्) आदर से (अलोपः) लोप नहीं हो सक्ता ॥

पूर्व सूत्र और तदनुसार भाष्य में जो सत्यकामत्वादिगुण परमात्मा के कहे हैं, उन पर यदि कोई कहे कि ये गुण तो कल्पित हैं, वास्तविक नहीं, तो इस का उत्तर सूत्र देता है कि बड़े आदर से जब शास्त्र परमात्मा के इन गुणों का वर्णन करता है, तब इन गुणों का लोप नहीं हो सक्ता। इस विषय में-श्रीरामानुज की पङ्क्तियें देखने योग्य हैं। यथा—

न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वात्सल्यपरं शास्त्रं प्रतारकवदऽपारमार्थिकान्निरसनीयान्गुणान् प्रमाणान्तराऽप्रतिपन्नानाऽऽदरेणोपदिश्य, संसारचक्रपरिवर्त्तनेन पूर्वमेव बम्भ्रम्यमाणान्मुमुक्षून् भूयोऽपि भ्रमयितुमलम् ॥

यह नहीं होसक्ता कि—सहस्रों माता पिताओं से भी अधिक प्यार करने वाला शास्त्र, ठग के समान, झूंठे और खण्डनीय (सत्यसंकल्पादि) गुणों को, जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध न हों, उन को आदरपूर्वक उपदेश करके, फिर—संसार चक्र की लौट पौट से पहले ही से धक्के खाते हुवे मोक्षाऽभिलाषी जनों को और भी भ्रमावे ॥

इस से स्पष्ट हुवा कि परमात्मा की सगुणता कल्पित नहीं, वास्तविक यथार्थ है। परन्तु शंकरभाष्य में प्रकरणविरुद्ध एक अपनी कल्पना नई ही निकालकर इस सूत्र को प्राणाग्निहोत्र के विषय में लेकर दूर फेंक दिया है ॥४०॥

४००—उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(अतः) इस कारण (उपस्थिते) सत्यसंकल्पादि गुण उपस्थित=अलुप्त होने पर (तद्वचनात्) उन के कथन से [पारमार्थिक हैं, कल्पित नहीं]॥

सत्यसंकल्पादि गुण उपस्थित होने में जब कि वे वेदान्तशास्त्र में कहे हैं इस कारण उन का कथन सङ्गत है ॥ ४१ ॥ प्रश्न—तो फिर सर्वत्र ही नियत गुण कर्म परमात्मा के क्यों न कहे ? उत्तर—

४०१—तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(तन्निर्धारणाऽनियमः) उन परमात्मा के गुणकर्मों के निर्धारण का नियम नहीं (तद्दृष्टेः) क्योंकि ऐसा उपनिषदादि शास्त्रों में देखा जाता है। (हि) क्योंकि (पृथक्) पृथक् (अप्रतिबन्धः) नियत गुण कर्मों का बन्धन न होना (फलम्) अनियम का फल है॥

परमात्मा को जिन २ गुण कर्मों से युक्त कहा गया है, उतने ही गुण कर्मों का निर्धारण नहीं है। इस अनियम से वर्णन का पृथक् फल यह भी है कि परमात्मा में नियत गुण कर्मों का प्रतिबन्ध नहीं। उस के गुण कर्म अनन्त हैं॥ हमारा यह भाष्य शङ्कराचार्यादि से निराला अवश्य है, परन्तु प्रकरण और पदार्थ से युक्त है॥ ४२॥

प्रश्नः— तो फिर प्रार्थना वा उपासना में परमात्मा को कहीं किसी गुण कर्म वाला, और कहीं कुछ और प्रकार से क्यों स्तुत किया है ? क्या कई परमात्मा हैं ? उत्तर—

४०२—प्रदानवदेव तदुक्तम्॥ ४३॥

पदार्थः—(प्रदानवत्) आहुतिप्रदान के समान (एव) ही [भेद है, वास्तव भेद तात्त्विक नहीं,] (तदुक्तम्) ऐसा कहा भी है॥

जैसे एक ही इन्द्र को ३ आहुतियों में ३ शब्दों से आहुतियें देते हैं। १—इन्द्राय राज्ञे स्वाहा, २—इन्द्रायऽधिराजाय स्वाहा, ३—इन्द्राय स्वराज्ञे स्वाहा। यहां पुरोडाश ३ हैं, इन्द्र के नाम विशेषण भी ३ हैं, पर इन्द्र एक ही है। इसी प्रकार परमात्मा के विषय में उक्तम्=कहा गया है। तत्त्वभेद से नहीं॥ ४३॥

प्रश्नः—क्यों जी! अग्नि वायु प्रजापति आदि अनेक शब्दों से एक ब्रह्म ही का ग्रहण स्तुति प्रार्थनोपासना प्रसङ्ग में भी क्यों करें, भिन्न २ देवता क्यों न समझें ? उत्तर—

४०३—लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि॥ ४४॥

पदार्थः—(लिङ्गभूयस्त्वात्) बहुविध गुण लिङ्ग से (तद् हि) वही ब्रह्म विवक्षित है। (तद्) उस ब्रह्म का ग्रहण (बलीयः) अति बलवान् (अपि) भी है॥ ४४॥

४०४—पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत्॥४५॥

पदार्थः—(पूर्वविकल्पः) पहला विकल्प (प्रकरणात्) प्रकरण से (स्यात्) हो सक्ता है। (मानसवत्) मानस व्यापार के समान (क्रिया) क्रिया समझनी चाहिये ॥

यदि प्रकरण अन्य कोई हो तो पूर्व कथन का विकल्प हो सकता है। परन्तु क्रियामात्र से विकल्प नहीं कर सकते, क्योंकि क्रिया तो मानस यज्ञ के समान कल्पित मानी जा सकती है। जैसे "दशरात्र" यज्ञ के दशवें (अन्तिम) दिन में पृथिवीरूपी पात्र से समुद्ररूपी सोम का प्रजापति देवतार्थ ग्रहण, आसादन, हवन, आहरण, उपह्वान और भक्षण मानसिक ही सब क्रिया मानली जाती हैं, कार्मिक नहीं। इसी प्रकार अग्नि वायु आदि के अलङ्कारयुक्त परमात्मवर्णन में भी सब क्रिया मानसी समझनी चाहियें ॥ ४५ ॥

४०५—अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(अतिदेशात्) अतिदेश से (च) भी [ब्रह्मविद्या ही विवक्षित है] ॥

सामान्य के अपवाद में अतिदेश प्रवृत्त हुवा करता है। स्तुति प्रार्थना वा उपासना के प्रकरण में अग्नि वायु आदि के सामान्यार्थ में अतिदेशार्थ ब्रह्म ही कहा है, इस से भी ॥ ४६ ॥

४०६—विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(निर्धारणात्) एवकारादि निर्धारणवाचक शब्द से (तु) तो भी (विद्याएव) ब्रह्मविद्या ही विवक्षित है ॥

१—"ते हैते विद्याचित एव"

२—"विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति" (शांकरभाष्ये)

३—"येषामङ्गिनो विद्यामयक्रतोस्ते मनसाऽधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैषुग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्त मनसाऽशंसन् यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते"(वेदान्त पारिजातसौरभे)

४—"यत्किं च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव क्रियते"

इत्यादि प्रकरणों में ज्ञानयज्ञ के समस्त यज्ञाङ्ग चयन, ग्रहण, शंसन

अध्ययन, स्तुति इत्यादि होते हैं। इस कारण विद्या=ब्रह्मविद्या ही विवक्षित है ॥ ४७ ॥ तथा—

४०७—दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(दर्शनात्) शास्त्रों में देखने से (च) भी [यही निश्चय होता है]॥४८॥

किन्हीं पुस्तकों में ४७ और ४८ वें सूत्रों को एक ही सूत्र माना है। परन्तु शंकरभाष्य का पाठ और रत्नप्रभा, भामती तथा आनन्द गिरि ने पृथक् २ दो सूत्र करके व्याख्या की है। तदनुसार हमने भी वैसा ही किया है॥

४०८—श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(च) और (श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्) श्रुति आदि के अति बलवती होने से भी (बाधः) विद्या प्रकरण की बाधा (न) नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥ तथा—

४०९—अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्-त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥

पदार्थः—(अनुबन्धादिभ्यः) यज्ञाङ्गों=अनुबन्धों आदि से (प्रज्ञान्तर पृथक्त्ववत्) अन्य शाण्डिल्य विद्यादि की पृथक्ता के समान (दृष्टः) देखा (च) भी जाता है। (तत् उक्तम्) यह मीमांसा दर्शन में भी कहा है॥

जैसे ग्रहण हवनादि अनुबन्ध कर्मयज्ञ में कहे हैं, वैसे ज्ञान यज्ञ में भी कल्पित किये जाते हैं। शाण्डिल्य विद्यादि नाम्नी पृथक् विद्यायें भी जैसे ब्रह्मविद्या से पृथक् नहीं, वैसे अनुबन्धादिसहित वायु अग्नि आदि नामों से उपासना प्रकरण में परमेश्वरार्थ ग्रहण करना, इसे पृथक् न गिनना भी न्याय्य है। जैसे मीमांसा दर्शन में राजसूयान्तर्गत एक अवेष्टि (इष्टि विशेष) क्रतु (राजसूय) का अङ्ग है, राजसूय क्रतु क्षत्रिय का काम है, तथापि—

यदि ब्राह्मणोयजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाऽऽहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्। यदि वैश्योवैश्वदेवं चरुं मध्ये निदध्यात्। यदि राजन्यस्तदैन्द्रम्।

(रत्नप्रभाटीका) इस प्रकार तीनों वर्णों के अनुष्ठेयत्व को वर्णन करता है। तब भी राजसूय यज्ञ की मुख्य क्षत्रियानुष्ठेयता अबाधित ही समझी जाती है। यह बात मीमांसा दर्शन के सूत्र ११।४।७ में कही गई है। यथा—

क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात् ॥

राजसूय क्रतु के अर्थ होने वाली अवेष्टि में कहो सो नहीं, उस में तौ तीन वर्णों का संयोग (लगाव) पायाजाता है ॥ ५० ॥

प्रश्न—क्या नचिकेता और मृत्यु के संवाद में जैसे मृत्यु का कोई लोकान्तर समझ पड़ता है, इसी प्रकार ब्रह्म का भी कोई लोक विशेष है? उत्तर—

४१०—न, सामान्यादऽप्युपलब्धेर्नहि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(न) नहीं, क्योंकि (सामान्यात् अपि उपलब्धेः) लोक विशेष न मानकर सामान्य से भी मृत्यु आदि की उपलब्धि है। इस लिये (लोकापत्तिः) लोक विशेष को स्वीकार करना (न हि) नहीं पड़ेगा ॥

न तौ नचिकेता और मृत्यु के संवाद में जो कल्पित अलंकार है, कोई लोक विशेष की सत्ता को समझना मानना चाहिये, न परमात्मा का कोई विशेष ब्रह्मलोक है ॥ ५१ ॥

४११—परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(च) और (परेण) परमात्मा से (शब्दस्य) शब्द का (ताद्विध्यम्) उस प्रकार होना पाया जाता है। (भूयस्त्वात्) महान् होने से (तु) तौ ही (अनुबन्धः) अनुबन्ध का कथन है ॥

अग्नि वायु आदि शब्द का उस प्रकार का वर्णन परमात्मा से तात्पर्य रखता है और परमात्मा के अनेक गुण कर्म युक्त महान् होने से ज्ञान यज्ञ में कर्मयज्ञ के से अनुबन्ध कहे हैं ॥ ५२ ॥

४१२—एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(एके) कई लोग कहते हैं कि (शरीरे) शरीर में (आत्मनः) आत्मा के (भावात्) होने से [जीवात्मा ही उपास्य है, अन्य परमात्मा कोई नहीं] ॥

आत्मा को, शरीर में है, ऐसा जान कर कोई लोग कहेंगे वा कहते वा कह सकते हैं कि यही जीवात्मा उपास्य है, अन्य कल्पना व्यर्थ है ॥५३॥ उत्तर—

४१३—व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(व्यतिरेकः) जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा की भिन्न सत्ता है। (तद्भावभावित्वात्) उस के भाव को भावी होने से। (तु) परन्तु

(उपलब्धिवत्) जीवात्मा की उपलब्धि के समान उस परमात्मा की उप-लब्धि (न तु) नहीं है ॥

जीवात्मा मुक्ति को पाकर परमात्मा के से भाव अपहतपाप्मत्वादि को पावेगा। इस लिये जीव सत्ता, परमात्मसत्ता से भिन्न है । परन्तु देह में रहते जीव की उपलब्धि के समान परमात्मा की उपलब्धि अज्ञानियों को नहीं हो सक्ती ॥ ५४ ॥

४१४-अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

पदार्थः-(अङ्गावबद्धाः) अङ्गों में बंधे हुवे (तु) तो (प्रतिवेदम्) प्रत्येक वेद की (शाखासु) सब शाखाओं में (हि) ही (न) नहीं पाये जाते ॥

प्रत्येक वेद की समस्त शाखाओं में ही यह नियम नहीं है कि सर्वत्र एक समान अलंकार बांध कर ज्ञानयज्ञ के सब अङ्गों की कल्पना एक प्रकार से की गई हो । इस लिये यज्ञाङ्गकल्पना काल्पनिक है, वास्तव में ब्रह्म-विद्यामात्र विवक्षित है ॥ ५५ ॥

४१५-मन्त्रवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

पदार्थः-(वा) अथवा (मन्त्रवत्) मन्त्रभेद के समान भेद मान कर भी (अविरोधः) परस्पर विरोध नहीं समझना चाहिये ॥

परमात्मा के वर्णन में शाखाओं के भेद के अतिरिक्त मूल मन्त्रों में भी एक वेद से दूसरे वेद या एक ही वेद के स्थानभेद से मन्त्रों के पाठों में भेद होता है, तथापि विरोध नहीं माना जाता। स्वतन्त्र उक्तिमात्र है ॥ ५६ ॥

४१६-भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥५७॥

पदार्थः-(भूम्नः) भूमा भगवान् परमात्मा का (क्रतुवत्) बड़े२ यज्ञों के समान (ज्यायस्त्वम्) महत्त्व है (तथा हि) वैसा ही (दर्शयति) उप-निषदादि शास्त्र दर्शाता है ॥

जैसे यज्ञ का महत्त्व उस के अङ्ग प्रत्यङ्गों से वर्णित होता तथा जाना जाता है, वैसे भूमा (अतिमहान्) परमात्मा का वर्णन भी अलंकार से अङ्ग प्रत्यङ्ग युक्त किया गया है । यही बात वेद उपनिषदादि शास्त्र दर्शाता है॥५७॥

प्रश्नः—उपनिषदादि में जो अनेक पदार्थों जीवात्मा परमात्मा प्रकृति आकाशादि का वर्णन आता है, सो क्या एक ही पदार्थ ब्रह्म का प्रपञ्च है वा नाना पदार्थ स्वरूप से भिन्न २ हैं ? उत्तरः—

४१७—नाना, शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(नाना) वे पदार्थ स्वरूप से नाना हैं क्योंकि (शब्दादिभेदात्) शब्द अनुमान उपमान प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों से भेद पाया जाता है। अभेद नहीं ॥ ५८ ॥

४१८—विकल्पोविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(विशिष्टफलत्वात्) विशेष फल होने से (विकल्पः) विकल्प है ॥

नाना पदार्थों का समुच्चय मानने में विशिष्ट फल नहीं, इस लिये नाना पदार्थ विकल्पयुक्त मानने चाहियें ॥५९॥ प्रश्नः—

४१९—काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्
न वा पूर्वहेतुत्वात् ॥ ६० ॥

पदार्थः-(तु) परन्तु (काम्याः) सकाम कर्मयज्ञ तो (यथाकामम्) इच्छानुसार (समुच्चीयेरन्) समुच्चय किये जावें (न वा) वा नहीं? क्योंकि (पूर्वहेत्वऽभावात) पूर्वोक्त हेतु उन में नहीं है ॥

सूत्र ५८ वें में कहा हेतु शब्दप्रमाणादि का भेद न होने से काम्य कर्मों में तो कर्त्ता की इच्छा है, समुच्चय करो, चाहे विकल्प, कोई नियम नहीं?

उत्तर—

४२०—अङ्गेषु यथाऽऽश्रयभावः ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(अङ्गेषु) ग्रहण हवन शंसनादि अङ्गों में (यथाऽऽश्रयभावः) आश्रयानुसार भाव है ॥

जिस २ अङ्ग की कल्पना ज्ञानयज्ञ में की जाती है, उस २ का आश्रय सत्तावान् है, कल्पित मात्र नहीं ॥ ६१ ॥

४२१—शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

पदार्थः— (शिष्टेः) विधान से (च) भी ॥

पूर्व कथित बात का विधान भी पाया जाता है ॥ ६२ ॥

४२२—समाहारात् ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(समाहारात्) एकत्र समाहार से ॥

अङ्गों का समाहार भी सर्वत्र पाया जाता है ॥ ६३ ॥

४२३–गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

पदार्थः–(गुणसाधारण्यश्रुतेः) गुणों की साधारणता=सामान्य श्रुति-प्रतिपादित होने से (च) भी ॥

जो गुण एक श्रुति में कहे हैं, उस के विरोधी गुण दूसरी श्रुति में नहीं सुने जाते ॥ ६४ ॥

४२४–न वा तत्सहभावाऽश्रुतेः ॥ ६५ ॥

पदार्थः–(तत्सहभावाऽश्रुतेः) अङ्गों का सहभाव न सुने जाने से (न वा) अङ्गवर्णन पारमार्थिक नहीं, काल्पनिक है ॥

अलंकार दृष्टि से अङ्गों की कल्पनामात्र है । वास्तव नहीं । क्योंकि श्रुतियों में अङ्गों का सहभाव नहीं कहा गया ॥ ६५ ॥

४२५–दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

पदार्थः–(दर्शनात्) प्रत्यक्ष से (च) भी ॥

हम प्रत्यक्ष देखते भी हैं कि परमात्मा के वास्तविक अङ्ग कोई नहीं पाये जाते जिन का अलंकारों में वर्णन होता है ॥ ६६ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते वेदान्तदर्शनभाषानुवादे
सभाष्ये तृतीयाऽध्यायस्य
तृतीयःपादः ॥ ३ ॥

ओ३म्
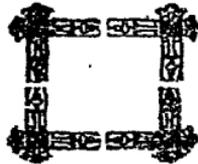
अथ तृतीयाध्यायस्य

चतुर्थःपादः

गुणोपसंहारनामक तृतीयपादके पश्चात् अब साधन पादका आरम्भ करते हैं—

४२६—पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

पदार्थः—(बादरायणः) व्यास मुनि (इति) ऐसा कहते हैं कि (अतः) इस=पूर्व पादोक्त गुणोपसंहारज्ञान से (पुरुषार्थः) पुरुष=जीवात्मा का अर्थ=प्रयोजन=मुक्ति होती है (शब्दात्) शब्द प्रमाण से ॥

"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति०" इत्यादि प्रमाणों से व्यास मुनि कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होती है ॥ १ ॥ और—

४२७—शेषत्वात्पुरुषार्थवादोयथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥२॥

पदार्थः—(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य (इति) ऐसा कहते हैं कि (यथा) जैसे (अन्येषु) अन्य प्रकरणों में है, वैसे ही (शेषत्वात्) ब्रह्मज्ञान को कर्मकाण्ड का शेष होने से (पुरुषार्थवादः) मुक्ति का कथन है ॥

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्माऽतिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याऽहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते (छां० ८ । १५ । १)

आचार्यकुल से वेद पढ़ कर, विधिपूर्वक गुरु से सब कर्म संपूर्ण करके, समावर्त्तन संस्कार कर, गृहस्थ में पवित्र देश में बैठ कर स्वाध्याय पढ़ता हुवा, धार्मिक अनुष्ठानों को करता हुवा, आत्मा में सब इन्द्रियों को प्रतिष्ठित करके, तीर्थों=युद्धादि यज्ञों के अन्यत्र सर्वभूतहिंसा को त्यागता हुवा, इस प्रकार वर्त्तने वाला जब तक (मुक्ति की) आयु है तब तक ब्रह्मलोक (मुक्ति) को प्राप्त होता है । इत्यादि अन्य प्रमाणों में जैसे कर्मपूर्वक ज्ञान

को मुक्ति का साधन कहा है वैसे ही " तमेव विदित्वा " इत्यादि वाक्यों में भी कर्मपूर्वक ज्ञान से मुक्ति समझनी चाहिये । यह जैमिनि जी स्पष्ट करते हैं । आचार्यों के नाम आदरार्थ हैं, मतभेदार्थ नहीं, जैसा कि शंकर भाष्यादि में है ॥ २ ॥ इस में क्रम से कई हेतु दर्शाते हैं । १ हेतुः–

४२८–आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

पदार्थः–(आचारदर्शनात्) आचार देखने से ॥

पूर्व ऋषि मुनियों तथा जनकादि ज्ञानियों का ऐसा आचरण देखते हैं कि कर्म भी करते रहे, तथा ज्ञान से मुक्ति पाई ॥ ३ ॥ और हेतुः २–

४२९–तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

पदार्थः–(तच्छ्रुतेः) उस का श्रुति द्वारा श्रवण होने से ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि० इत्यादि श्रुतियों में कर्म करते हुवे ही को मुक्ति प्राप्ति कही है ॥ ४ ॥ तथा हेतुः ३–

४३०–समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

पदार्थः–(समन्वारम्भणात्) समन्वारम्भ शब्द से ॥

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते० बृ० ४ । ४ । २

इत्यादि वाक्यों में विद्या=ब्रह्मज्ञान और कर्म दोनों का अनुक्रम से सम्यक् आरम्भकत्व देखा जाता है ॥ ५ ॥ तथा हेतुः ४–

४३१–तद्वतोविधानात् ॥ ६ ॥

पदार्थः-(तद्वतः) कर्म वाले को (विधानात्) ज्ञान का विधान पाये जाने से ॥ ६ ॥ तथा हेतुः ५–

४३२–नियमाच्च ॥ ७ ॥

पदार्थः–(च) और (नियमात्) नियम से ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुः ४० । २ इत्यादि में नियम किया है कि कर्मानुष्ठान के अन्यथा कर्मलेपबन्धन नहीं छूट सक्ता ॥ ७ ॥

प्रश्नः–तब बादरायण=व्यास का मत जो प्रथम सूत्र में स्वयं व्यास जी ने

कहा, वह क्या जैमिनि से विरुद्ध है ? क्योंकि जैमिनि के मत पर तो बहुत हेतु दिये गये हैं ? उत्तर- नहीं, किन्तु-

४३३-अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥८॥

पदार्थः-(अधिकोपदेशात्) अधिक स्पष्ट उपदेश से (तु) तो (बादरायणस्य) व्यास जी का (एवम्) ऐसा ही तात्पर्य है (तद्दर्शनात्) उस का कथन स्पष्ट देखने से ॥

व्यास जी का तात्पर्य भी शास्त्रों के पूर्वाऽपर देखने से कर्मपूर्वक ज्ञान विषयक ही जानो ॥ ८ ॥ क्योंकि-

४३४-तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

पदार्थः-(दर्शनम्) दर्शन (तु) तो (तुल्यम्) व्यास और जैमिनि दोनों का तुल्य=समान=अविरुद्ध है ॥ ९ ॥

प्रश्नः-फिर "केवल ज्ञान से मुक्ति होती है" इत्यादि उक्तियों की क्या गति होगी ? उत्तर-

४३५-असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

पदार्थः-(असार्वत्रिकी) ऐसी उक्तियें सर्वत्र एक समान नहीं हैं ॥

किन्तु "विद्यां चाऽविद्यां च" इत्यादि प्रमाण बहुत स्थलों पर हैं जो कर्म से और ज्ञान से दोनों से ही पूरा मुक्तिलाभ बताते हैं ॥ १० ॥

प्रश्नः-" अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया " यजुः अ० ४० इत्यादि वचनों से तो कर्मोपासना का भिन्न और ज्ञान का भिन्न फल बतलाया है यह विभाग क्यों हैं ? उत्तर-

४३६-विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

पदार्थः-(विभागः) विभाग (शतवत्) १०० के समान है ॥

जैसे किसी को पूरे १०० देने हों और वे दो बार कर के ५० । ५० दिये जावें, ऐसे ही कर्मोपासना से अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान से मोक्ष । ये दो विभाग हैं, जो दोनों मिल कर ही पूरी मुक्ति कहा सके हैं । जैसे दो (क़िस्तों) से पूरे सौ दिये जाते हैं ॥ ११ ॥ पूर्वपक्ष-

४३७-अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

पदार्थः-(अध्ययनमात्रवतः) वेदाध्ययनमात्र वाले को [मुक्ति कही है] ॥

" आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य० " इत्यादि में तो वेदाध्ययनमात्र की आवश्यकता कही है, कर्म और उपासना की नहीं ? ॥ १२ ॥ उत्तरपक्ष-

४३८-नाऽविशेषात् ॥ १३ ॥

पदार्थः-(न) नहीं, क्योंकि (अविशेषात्) विशेष कथन होने से ॥

वेदाध्ययन का सामान्य कथन है, उस में अध्ययन, अर्थज्ञान, अनुष्ठान सब आगया है, विशेष कुछ नहीं कहा है कि केवल वेदाध्ययन ही अपेक्षित है, कर्मादि नहीं ॥ १३ ॥ अथवा-

४३९-स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

पदार्थः-(वा) अथवा (स्तुतये) स्तुति के लिये (अनुमतिः) अनुमति दीगई है ॥

वेदाध्ययन की स्तुति=प्रशंसा निमित्त अध्ययन की अनुमति है, वास्तव में तो वेदोक्त कर्मोष्ठान ही प्रयोजनीय है ॥ १४ ॥

४४०-कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

पदार्थः-(च) और (एके) कोई ऋषि मुनि (कामकारेण) इच्छानुसार मानते हैं ॥

बृहदारण्यक ४ । ४ । २२ में कहा है कि-

एतद्धस्म वैतत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो, येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः ॥

अर्थ-यह प्रसिद्ध है कि पहले कुछ विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे, कि सन्तान से हम क्या करेंगे, जब कि हम को यह परमात्मा यह ब्रह्मलोक प्राप्त है ॥ इस से पाया जाता है कि सन्तानोत्पादनादि वेदोक्त कर्म को कोई आचार्य इच्छानुसार मानते हैं, आवश्यक नहीं मानते ॥ १५ ॥

प्रश्नः-कर्म के त्याग में कोई हानि वा दोष भी है क्या ? उत्तर-हां-

४४१-उपमर्दं च ॥ १६ ॥

पदार्थः-हम (उपमर्दम्) हत्या वा हिंसा को (च) भी देखते हैं ॥ यथा-

तैत्ति० १ । ११ में कहा है कि-

वीरहा एष वै देवानां योऽग्निमुद्वासयते ॥

वह अवश्य देवों में वीरहत्यारा है जो अग्निहोत्र का त्याग करता है ॥ १६ ॥

४४२-ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

पदार्थः-(ऊर्ध्वरेतस्सु) वीर्य को ऊपर चढाने वाले विवाह न करके आजन्म ब्रह्मचारी रहनेवाले तथा ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी होजाने वालों के विषय में (च) भी (शब्दे) शब्द प्रमाण में (हि) निश्चय [कर्म त्याज्य नहीं]॥

संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्

इत्यादि शब्दों में कहा है कि अन्य सब कर्म संन्यास=त्यागदे परन्तु वेद को न त्यागे ॥ १७ ॥

४४३-परामर्शं जैमिनिरचोदना चाऽपवदति हि ॥ १८ ॥

पदार्थः-(जैमिनिः) जैमिनि मुनि मीमांसा दर्शन के कर्त्ता (परामर्शम्) परामर्श देते हैं कि (अचोदना) कोई विधि नहीं है (च) और (अपवदति) शास्त्र अपवाद करता है (हि) निश्चय ॥

जैमिनि के मत से व्यास जी कहते हैं कि कर्म के त्याग का कोई विधि नहीं है, प्रत्युत "वीरहा०" इत्यादि द्वारा शास्त्र कर्मत्याग की निन्दा तौ अवश्य करता है ॥ १८ ॥

४४४-अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

पदार्थः-(बादरायणः) स्वयं व्यास जी (अनुष्ठेयम्) कर्मानुष्ठान को कहते हैं क्योंकि (साम्यश्रुतेः) श्रुति कर्म और ज्ञान को समता देती है, कि केवल विद्या=ज्ञान से भी अन्धकार प्राप्ति होती है, तथा केवल कर्मोपासना मात्र से भी ॥ १९ ॥

४४५-विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

पदार्थः-(वा) अथवा (धारणवत्) धारण के समान (विधिः) विधि है ॥

यदि कर्मत्याग की विधि भी है तौ धारण के समान है । जैसे " अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेत् " इस में अनुद्रवण की विधि है, परन्तु साथ में धारण भी तौ समिध का है ही ॥ २० ॥

४४६-स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

पदार्थः-(चेत) यदि (इति) ऐसा कहो कि (स्तुतिमात्रम्) यह प्रशंसा मात्र है, क्योंकि (उपादानात्) [शब्द प्रमाण में इस का] उपादान=ग्रहण है, सो (न) नहीं, क्योंकि (अपूर्वत्वात्) अपूर्व होने से ॥

"विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" इत्यादि वाक्यानुसार विधि ही है, न कि प्रशंसामात्र ॥ २२ ॥

४४७–भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

पदार्थः–(भावशब्दात्) भाव के शब्दप्रमाण से (च) भी ॥

कर्म और उपासना के भाव में शब्दप्रमाण भी हैं कि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि०" इत्यादि कर्म के, तथा "सामोपासीत" छान्दोग्य २ । २ । १ तथा— "उद्गीथमुपासीत" छा० १ । १ । १ इत्यादि प्रमाण उपासना के भाव में भी उपस्थित हैं ॥ २२ ॥

४४८–पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

पदार्थः–(चेत्) यदि (इति) ऐसी शङ्का हो कि (पारिप्लवार्थाः) पारिप्लव के अर्थ में हैं, सो (न) नहीं (विशेषितत्वात्) विशेषयुक्त कर देने से ॥

ब्रह्मविद्या उपनिषदों पर यदि कोई संदेह करे कि इन में अनेक लोगों की कथा आती हैं, सो पारिप्लव हैं । क्योंकि–

१–अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी
च कात्यायनी च ॥ बृ० ४ । ५ । १ ॥

२–प्रतर्दनोह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं
धामोपजगाम ॥ कौषी० ३ । १ ॥

३–जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहु-
दायी बहुपाक्य आस ॥ छा० ४ । १ । १ ॥

४–श्वेतकेतुर्हारुणेय आस ॥

इत्यादि में कथा हैं । इस का उत्तर यह है कि ये पारिप्लव नाम की कथा नहीं हैं । क्योंकि जहां–

"पारिप्लवमाचक्षीत"=पारिप्लव की कथा करे । यह कहा है, वहां आगे–

" मनुर्वैवस्वतोराजा "

इत्यादि विशेष कथा कही हैं, बस वे ही आख्यान पारिप्लव हैं । सब उपाख्यान याज्ञवल्क्यादि के जो ब्रह्मविद्या उपनिषदों में आये हैं, उन का अर्थ पारिप्लव नहीं । विशेषों का ही है ॥ २३ ॥

४४९–तथा चैकवाक्यतोपनिबन्धात् ॥ २४ ॥

पदार्थः-(तथा च) इस प्रकार ही (एकवाक्यतोपनिबन्धात्) एक वाक्यता का उपनिबन्ध होने से ॥

पारिप्लवार्थ न होने वा न मानने पर ही याज्ञवल्क्यादि के आख्यानों का ब्रह्मविद्यावाक्यों से एक वाक्यता का उपनिबन्ध होगा ॥ २४ ॥ प्रश्न–

४५०–अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

पदार्थः-(च) और (अतः, एव) इस ब्रह्म विद्या में ही (अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा) अग्नि और इंधन आदि सामग्री की अपेक्षा नहीं ? ॥२५॥ उत्तर–

४५१–सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

पदार्थः-(सर्वापेक्षा) अग्नि इन्धनादि सर्व सामग्री की अपेक्षा (च) भी है, क्योंकि (यज्ञादिश्रुतेः) यज्ञादि कर्मों का श्रुति में विधान है (अश्ववत्) घोड़े के समान ॥

ब्रह्मविद्यावाक्यों में यज्ञादि कर्मों का श्रवण करते हैं । यथा–

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन,तपसाऽनाशकेन ॥ बृ० ४ । ४ । २२ ॥

इत्यादि श्रुतियों में वेदाध्ययन और तदनुसारि यज्ञ दान तप का अनुष्ठान बताया गया है । इस कारण अग्नि इन्धनादि सर्व सामग्री की आवश्यकता ब्रह्मज्ञानार्थी को है । जैसे किसी सुदूर स्थान पर शीघ्र पहुंचने की इच्छा वाले यात्री को घोड़े की आवश्यकता होती है । क्योंकि घोड़े की सवारी से वह इस योग्य हो सकता है कि गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुंच जावे । इसी प्रकार यज्ञादि कर्मानुष्ठान से मनुष्य का अन्तःकरण इस योग्य हो जा सकता है कि शीघ्र ब्रह्मविद्या का फल मुक्ति मिल सके ॥

गीता में भी कहा है कि(१८ । ५)–

यज्ञोदानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

यज्ञ, दान और तप करना, यह त्याज्य नहीं है । क्योंकि मनीषी–ज्ञानार्थी को यज्ञ, दान और तप पवित्र करते हैं ॥ २६ ॥

४५२-शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधे-स्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

पदार्थः-(शमदमाद्युपेतः स्यात्) चाहे विद्यार्थी शमदमादि साधन संपन्न भी हो (तथापि) तौ भी (तु) तो (तद्विधेः) उस यज्ञादि का विधान (तदङ्गतया) विद्यार्थी की विद्या का अङ्ग होने से (तेषाम्) उन यज्ञ दान तप के (अवश्याऽनुष्ठेयत्वात्) अवश्य अनुष्ठान करने योग्य होने से ॥

कैसा स्पष्ट कर्म का विधान है कि चाहे ब्रह्मविद्यार्थी शमदमादि साधन सम्पन्न भी हो तौ भी वेद की आज्ञा यही है कि सब कोई कर्म का अनुष्ठान अवश्य करे। अतएव यज्ञादि कर्म विद्या के अङ्ग हैं ॥ २७ ॥

४५३-सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

पदार्थः-(च) और (सर्वान्नानुमतिः) सर्व अन्नों की अनुमति (प्राणात्यये) प्राण के संकट होने पर है (तद्दर्शनात) उस के देखने से ॥

ज्ञानी सब का अन्न खा लेता है, उस को कुछ अभक्ष्य नहीं। इस प्रकार की चर्चा भी वेदान्त शास्त्र में पाई जाती है। यथा-

१-न ह वा एवंविदि किंचनाऽनन्नं भवति ॥ छां० ५।२।१॥

२-न ह वा अस्याऽनन्नं जग्धं भवति ॥ बृ० ६।१।१४॥

अर्थात् इस ब्रह्मज्ञानी को कोई अन्न अभक्ष्य नहीं है। इस पर सूत्रकार व्यास जी कहते हैं कि यह प्राणसंकट में देखा जाता है, कोई विधि नहीं है। जैसे चाक्रायण का वर्णन देखा जाता है कि-

" चाक्रायण ऋषि ने हाथी के झूंठे चणे के दाने को खाया था" परन्तु इस का कारण उसी छान्दोग्य में चाक्रायण ने बताया है कि " यदि मैं न खाता तौ जीवित न रहता " छान्दोग्य १।१०।१-४ ॥ इस प्रकार प्राणसंकट में ब्रह्मज्ञानी की सर्वान्नानुमति कोई अनापत्कालार्थ विधि नहीं है ॥ २८ ॥

४५४-अबाधाच्च ॥ २९ ॥

पदार्थः-(अबाधात्) बाधा न होने से (च) भी ॥

प्राणात्यय में ऐसा किया गया तो भक्ष्याऽभक्ष्यविवेचक शास्त्र की बाधा नहीं हुई ॥ २९ ॥

४५५- अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

पदार्थः-(अपि च) तथा च (स्मर्यते) स्मृति शास्त्र का कथन भी है कि-

जीवितात्ययमापन्नोयोऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १ ॥ शंकरभाष्ये

अर्थ-प्राण निकलने के भय की आपत्तिकाल में जो जहां तहां का भी अन्न खा लेता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे पानी में रहता हुवा भी कमलपत्र पानी से लिप्त नहीं होता ॥ ३० ॥

४५६-शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

पदार्थः-(अतः) इस कारण से (अकामकारे) स्वेच्छाचार को रोकने में (शब्दः) शब्दप्रमाण (च) भी है ॥

" तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत " इस लिये ब्रह्मज्ञानी मद्य न पीवे। यह कठशाखियों की संहिता में शंकरभाष्यानुमत निषेध है। इस से स्पष्ट है कि ज्ञानी के लिये खानपान की वैसी स्वतन्त्रता नहीं है ॥ ३१ ॥

४५७-विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि ॥ ३२ ॥

पदार्थः-(च) तथा (विहितत्वात्) विधान किया होने से (आश्रमकर्म) अपने आश्रम का कर्त्तव्य कर्म (अपि) भी करना चाहिये ॥

न केवल खान पान की स्वतन्त्रता का निषेध है, किन्तु आश्रमकर्म में भी स्वतन्त्रता नहीं है, वह भी करना ही पड़ेगा ॥ ३२ ॥

४५८-सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

पदार्थः-(सहकारित्वेन) सहायक होने से (च) भी ॥

न केवल विधान होने से आश्रमकर्म करना ही चाहिये, किन्तु ब्रह्मज्ञान में आश्रमकर्मानुष्ठान की सहायता भी होती है । क्योंकि उस से अन्तःकरण की शुद्धि आदि होती हैं। इसी लिये पूर्व इसी पादके सूत्र २६ में कह आये हैं॥३३॥

४५९-सर्वथाऽपि तएवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

पदार्थः-(सर्वथा) सब प्रकार से (अपि) भी (ते) वे यज्ञादिधर्म (एव) करने ही चाहियें (उभयलिङ्गात) दोनों लिङ्गों से ॥

आश्रम कर्त्तव्य की दृष्टि से भी और विद्या के सहायक होने की दृष्टि से भी, उभयथा वा सर्वथा वे यज्ञादि कर्म करने ही चाहियें ॥ ३४ ॥

४६०—अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

पदार्थः-(च) और (अनभिभवम्) अनाश को भी (दर्शयति) शास्त्र दिखलाता है ॥

एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते ॥ छां० ८।५।३

अर्थात् जिस आत्मा (परमात्मा) को ब्रह्मचर्यानुष्ठान के बल से पाता है, वह पाना नष्ट नहीं होता । यह आश्रमकर्म का अधिक फल है कि आश्रमकर्म की सहायता से अभिभव=भूल वा नाश ज्ञान का नहीं होता ॥३५॥

४६१—अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(अपि तु) यह भी तो है कि (अन्तरा) यज्ञादि कर्म के विना (च) भी (तद्दृष्टेः) ज्ञानप्राप्ति देखी जाने से ॥

रैक्व तथा वाचक्नवी आदि ने यज्ञानुष्ठान नहीं किये, तो भी वे ब्रह्मज्ञानी प्रसिद्ध हैं । इस से पाया जाता है कि यज्ञादि न करने वालों को भी ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती है । उन के अन्तःकरण की शुद्धि का कारण जपमात्र हो सकता है ॥ ३६ ॥

४६२—अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(स्मर्यते) स्मृति में (अपि) भी (च) तो, लिखा है कि—

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणोनात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रोब्राह्मण उच्यते ॥ मनुः

केवल जपनीय गायत्र्यादि मन्त्र के जाप से ही ब्राह्मण सिद्ध बन सका है । इस में संशय नहीं । चाहे अन्य (यज्ञादिकर्म) करे वा न करे, मैत्र ब्राह्मण कहाता है ॥ ३७ ॥

४६३—विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(विशेषानुग्रहः) विशेष अनुग्रह=रियायत (च) भी होती है॥

किसी २ पर देखा जाता है कि जप होमादि विना किये भी परमात्मा

की ऐसी विशेष कृपा होती है कि ज्ञान हो जाता है। उस का कारण पूर्व जन्म के सुकृत हो सकते हैं। क्योंकि—

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततोयाति परां गतिम् (गी० ६।४५)

अनेक जन्मों की सिद्धि भी ब्रह्मप्राप्ति का हेतु होती है ॥ ३८ ॥

४६४—अतस्त्वितरज्ज्यायोलिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(तु) परन्तु (अतः) इस=विनायज्ञादि कर्मानुष्ठान के ज्ञानी बनने से (इतरत्) दूसरा पक्ष (ज्यायः) श्रेष्ठ है (लिङ्गाच्च) श्रुति में विधान पाये जाने से भी ॥

यज्ञादि न करके ज्ञानी हो जाने की अपेक्षा यज्ञादि करके ज्ञान पाना श्रेष्ठ है, क्योंकि उस का साक्षाद्विधान पाया जाता है। उस में पूर्वजन्मादि कृत कर्मों के अनुमान की आवश्यकता नहीं है ॥ ३९ ॥

४६५—तद्भूतस्य तु नाऽतद्भावोजैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाऽभावेभ्यः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(तद्भूतस्य) जो ज्ञानी हो गया उस का (अतद्भावः) ज्ञानी न रहना (न) नहीं होता। क्योंकि (नियमात्) नियम से और (तद्रूपा अभावेभ्यः) उस=अतद्भाव=प्रच्युति के रूपों का अभाव होने से। (जैमिनेः अपि) जैमिनि का भी यही मत है ॥

जो कर्मानुष्ठानपूर्वक ज्ञान को प्राप्त होता है, वह विघ्नों से भी पतित नहीं होता। क्योंकि एक तो नियम है कि कर्म करता हुवा ही कर्मबन्धन से छूटेगा, दूसरे उस अज्ञानी हो जाने=पतित हो जाने के रूपों का अभाव है। ज्ञानी पतित नहीं होता जो नियमपूर्वक ज्ञान पाता है। बहुवचन अन्य अभावों के लिये है जो उस ने सत्कर्मानुष्ठान किये हैं, उन के फल न हों, यह नहीं होता ॥

अर्थात् कर्मानुष्ठान की सीढ़ी लगा कर ज्ञान के महल पर चढ़ने वाले को गिर पड़ने का डर नहीं है ॥

शंकरभाष्य में " नियमाऽतद्रूपाभावेभ्यः " एक पद मान कर इसी पाठ की व्याख्या की है, परन्तु वेदान्तपारिजातसौरभ, वेदान्तकौस्तुभ और उसी की प्रभा; इन तीनों व्याख्याओं में " नियमात् तद्रूपाभावेभ्यः "

पाठ की व्याख्या है। हमने भी यही पाठ उत्तम समझा। क्योंकि शंकर भाष्य का समासान्त एकपदव्याख्यान मानने में समास असमर्थ जान पड़ता है॥

जैमिनि का मत भी बता कर व्यास जी ने स्वमत की पुष्टि की है॥ ४० ॥

प्रश्नः—आश्रम से आश्रम प्रति चलने वाले नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लेकर मोक्षार्थी नैष्ठिक ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य यदि नष्ट हो जाय वा क्षीण हो जावे तो उस का प्रायश्चित्त हो सकता है वा नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि—

४६६—न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदऽयोगात्॥४१॥

पदार्थः—(च) और (आधिकारिकम्) अधिकार से प्राप्त (अपि) भी (न) नहीं, क्योंकि (पतनाऽनुमानात्) पतन के अनुमान=स्मृतिवचन से (तदऽयोगात्) उस का योग न होने से॥

जिस का शिर कट गया उस का शिर जोड़कर प्रतीकार (इलाज) नहीं होता। इसलिये उस पतित को, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर भी पतित हो गया, ब्रह्मचर्यव्रत का लोप कर चुका, उस को अधिकारप्राप्त प्रायश्चित भी नहीं है। अवकीर्णी ब्रह्मचारी को जो मन्वादि स्मृतिकारों ने निर्ऋतियज्ञ का प्रायश्चित्त कहा है, वह अधिकार भी इस नैष्ठिक ब्रह्मचारी को नहीं रहता। क्योंकि—

> आरूढोनैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।
> प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा॥

इस शंकरभाष्यादिस्थ स्मृति का अर्थ यह है कि—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धर्म पर चढ़ कर भी जो पुनः पतित हो जाता है, उस का प्रायश्चित्त नहीं देखता हूं, जिस से आत्महत्यारा शुद्ध हो जावे॥ ४१ ॥

४६७—उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम्॥ ४२ ॥

पदार्थः—पक्षान्तर—(एके) कोई २ आचार्य (तु) तो (उपपूर्वम्) उपपातक (भावम्) भाव को (अपि) भी मानते हैं (अशनवत्) अभक्ष्यभक्षण समान (तदुक्तम्) ऐसा कहा भी है॥

किन्हीं आचार्यों का मत है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी का अवकीर्णी हो जाना भी 'उप' पातक ही है और वह भाव भी व्रतलोप में भोजन के दोष

के समान ही प्रायश्चित्तयोग्य है। प्रायश्चित्त का अभाव जो स्मृति में ऊपर बताया है, वह इसलिये है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी बहुत यत्न से व्रत की रक्षा करे। "समा विप्रतिपत्तिः स्यात्" मी० १।३।८ इत्यादि सूत्रों में शास्त्रान्तर में कहा भी है ॥ ४२ ॥

४६८—बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

पदार्थः(तु) परन्तु (उभयथा) दोनों दशाओं में (अपि) भी (बहिः) बहिष्कार होना चाहिये। क्योंकि (स्मृतेः) स्मृति की आज्ञा से (च) और (आचारात्) सदाचार से ॥

चाहे पूर्व सूत्रानुसार एकदेशीय मत से नैष्ठिक ब्रह्मचारी के अवकीर्णी दोष को उपपातक माने, चाहे महापातक और प्रायश्चित्त के अयोग्य मानें, दोनों दशाओं में उस का बहिष्कार तो कर ही देना चाहिये क्योंकि एक तो स्मृति (प्रायश्चित्तं न पश्यामि) का आदर हो जायगा, तथा सदाचार की रक्षा होगी। यदि प्रायश्चित्त कराया भी जावे तो उस का फल प्रायश्चित्त कर लेने वाले को परलोक में मिल ही जायगा, और इस लोक में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को भय रहेगा कि प्रायश्चित्त भी नहीं होसक्ता, तथा प्रायश्चित्त करा भी लें तो भी सदाचारियों में बहिष्कार के भय से व्रत की रक्षा में अधिक ध्यान दिया जायगा ॥ ४३ ॥

४६९—स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(स्वामिनः) स्वामी=यजमान को (फलश्रुतेः) फलश्रवण करने से (इति) यह (आत्रेयः) आत्रेय आचार्य का मत है ॥

प्रश्नः—उपासना में यजमान जब अपने ऋत्विजों का नियमपूर्वक वरण करता है और उनसे उपासना ध्यान आदि कराता है तब उस का फल ऋत्विजों को होता है वा यजमान को ? ज्ञान के अङ्गों के विषय में यह प्रश्न है ॥

उत्तर—यह सूत्र उत्तर देता है कि स्वामी=मालिक=यजमान को फल होता है क्योंकि उस को फल होने में श्रवण करते हैं कि—

वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवंविद्वान्

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ छां० २।३।२ ॥

जो विद्वान् (ऋत्विज्) वृष्टियज्ञ में पांच प्रकार की सामोपासना

करता है, वह इस (यजमान) के लिये वर्षा कराता है । उस से वर्षता है ॥

प्रश्नः—यह भी तौ लिखा है कि ऋत्विज् अपनी कामना और यजमान की भी कामनाओं को गाता है । यथा—

आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति ॥ बृ० १ । ३ । २८

उत्तर—नहीं । यह वचन केवल वचन के फलविषयक है । फल तौ स्वामी (यजमान) को ही होगा । यह आत्रेय का मत है ॥ ४४ ॥

४७०—आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥४५॥

पदार्थः—(औडुलोमिः) औडुलोमि आचार्य (इति) यह कहते हैं कि (आर्त्विज्यम्) ऋत्विज् के करने का काम है (हि) क्योंकि (तस्मै) उस =यजमान के लिये (परिक्रीयते) ख़रीदा जाता है ॥

प्रश्न यह था कि फल यजमान को होता है तौ फिर यजमान स्वयं ही उपासना करले सक्ता है ? उत्तर—नहीं, औडुलोमि कहते हैं कि ऋत्विज् से कराने और उस से दक्षिणा देकर ख़रीदने का विधान है । अधिकताऽधिकार की रीति से जैसे योद्धा लड़ते हैं और फल युद्धोद्देश का राजा को ही होता है । तथा यह भी नहीं हो सकता कि राजा विना योद्धाओं के स्वयं ही लड़ले ॥ ४५ ॥ तथा—

४७१—श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(श्रुतेः) श्रुति से (च) भी ॥

श्रुति से भी पाया जाता है कि ऋत्विज् यजमानार्थ उपासना करें और उस के लिये ही फल हो । यथा—

तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि ॥
छां० १ । ७ । ८-९ ॥

इस कारण विद्वान् उद्गाता कहे (यजमान से) कि तेरे किस काम के लिये गान करूं ॥ ४६ ॥

४७२—सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतोविध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(सहकार्यन्तरविधिः) अन्य सहकारी साधन का विधान है

(पक्षेण) पक्षान्तर से (तृतीयम्) तीसरे साधन को भी (तद्वतः) अन्य साधन वाले को कहा है (विध्यादिवत्) जैसे अन्य कर्मविधान है, वैसे ॥

ज्ञानार्थी को न केवल कर्म ही विहित है,किन्तु अन्य सहकारी साधन= बाल्य (बालक के समान अदम्भी अदर्पी पना आदि) पाण्डित्य आदि साधन अथवा तीसरा मौन=मुनिव्रत (नतु चुप रहना) भी ऐसे ही विहित हैं, जैसे अन्य यज्ञादि विधान ॥ ४१ ॥

४७३–कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

पदार्थः–(कृत्स्नभावात्) समस्तभाव से (तु) तौ (गृहिणा) गृहस्थाश्रमी से (उपसंहारः) उपसंग्रहण है ॥

सारे साधन मिलाये जावें तौ न केवल संन्यासी ही ज्ञानाधिकारी है, प्रत्युत गृहस्थ भी सम्मिलित हो सक्ता है ॥ ४८ ॥ क्योंकि–

४७४–मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

पदार्थः–(मौनवत्) मुनिव्रत के समान (इतरेषाम्) अन्य आश्रम धर्मों का (अपि) भी (उपदेशात्) उपदेश होने से ॥ ४९ ॥

प्रश्नः–बाल्यभाव का क्या तात्पर्य है । क्या ज्ञानी को बालक के समान जहां तहां मल मूत्रादि कर देने की भी स्वेच्छाचारिता साधन है ? उत्तर–नहीं, प्रत्युत–

४७५–अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

पदार्थः–(अनाविष्कुर्वन्) दिखावा न करता रहे (अन्वयात्) प्रकरण संगति से ॥

शास्त्र में बालकपन की, इस प्रकरण में जो ज्ञान के साधनों का प्रकरण है, इस प्रकार की बातें बाल्यभाव में गिनायी हैं कि–

यं न सन्तं न चाऽसन्तं नाऽश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥ १ ॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण वह है जिस को कोई न जाने कि सज्जन है वा असज्जन,विद्वान् है वा मूर्ख;सदाचारी है वा दुराचारी, इत्यादि अर्थात् बालक सा बना रहे । अपने भावों का दिखावा न करे ॥ ५० ॥

प्रश्नः—इन अब तक कहे साधनों से इसी जन्म में ब्रह्मज्ञान होजाता है ? या जन्मान्तर में ? उत्तर—

४७६—ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(ऐहिकम्) इसी जन्म में होना (अपि) भी संभव है,यदि (अप्रस्तुतप्रतिबन्धे) कोई विघ्न न प्रस्तुत हो (तद्दर्शनात्) क्योंकि ऐसा देखाजाता है कि—वामदेवादि को इसी जन्ममें ज्ञानसिद्धि होगई थी ॥५१॥

४७७—एवं मुक्तिफलाऽनियमस्तदऽवस्था ऽवधृतेस्तदऽवस्थाऽवधृतेः ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(एवम्) इस प्रकार साधनसंपन्न पुरुष को (मुक्तिफलाऽनियमः) मुक्ति फल में कोई नियम=बन्धन नहीं रहता (तदवस्थाऽधृतेः) उस मुक्त की अवस्था का अवधारण होने से ॥

मुक्त पुरुष की मुक्तावस्था का ऐसा अवधारण=निरालापन है कि उस को कोई नियम=बन्धन शेष नहीं रहता ॥

(तदवस्थावधृतेः) यह द्वितीयवार पाठ अध्याय समाप्तिसूचनार्थ है ॥

इति

श्री तुलसीरामस्वामिकृते
वेदान्तदर्शनभाषानुवादयुतभाष्ये
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ओ३म्

अथ चतुर्थोऽध्यायः

तत्र प्रथमः पादः

तृतीयाध्याय में प्रायः परा अपरा विद्याओं में साधनसम्बन्धी विचार किया गया । अब चतुर्थाध्याय में फलसंबन्धी विचार चलेगा । प्रसङ्गवश अन्यचर्चा भी आवेगी ॥

प्रथम पादारम्भमें पहले कुछ पूर्वपादप्रकरणगत साधनसंबन्धी विचार शेष रहा है, वह कहा जाता है—

४७८—आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

पदार्थः—(असकृत्) बारंबार (उपदेशात्) उपदेश से (आवृत्तिः) पुनः पुनः अभ्यास वा आवृत्ति सूचित है ॥

ब्रह्मज्ञानसंबन्धी उपदेश वेदान्त शास्त्र में अनेक बार किया गया है । इस से जाना जाता है कि जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति का बार बार लगातार ध्यान करती है, तद्वत् विद्यार्थी को लगातार ध्यान लगाकर विद्याभ्यास (ब्रह्मविद्या का अभ्यास) करना चाहिये ॥ १ ॥

४७९—लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

पदार्थः—(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी

भूयएव मा भगवान्विज्ञापयतु ॥ छां० ६ । ८ । ७ ॥

इत्यादि वाक्यों में भूयः=बार २ उपदेश का लिङ्ग पाया जाता है । इस से भी आवृत्ति सिद्ध है ॥ २ ॥

४८०—आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

पदार्थः—(आत्मा इति) आत्मा है, ऐसा जानकर (तु) तो (उपगच्छन्ति) स्वयं समझते (च) और (ग्राहयन्ति) दूसरों को समझाते हैं ॥

यस्यात्मा शरीरम् ॥ बृह०

आत्मा=जीवात्मा जिस (परमात्मा) का शरीर है । इत्यादि स्थलों में परमात्मा को जीवात्मा रूपी शरीर का आत्मा=व्यापक कहा है । उसी

अभिप्राय से उपासक जीव को अपने (जीवात्मस्वरूप शरीर के) आत्मा रूप से परमात्मा का ग्रहण करना होता है । तथा शिष्यों को भी यही उपदेश किया जाता है कि तुम्हारे जीवात्मा रूपी शरीरों का आत्मा परमात्मा है । यथा—

एष तआत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ बृ० ३ । ७ । ३

यह अन्तर्यामी तेरा (जीव) का आत्मा है ॥

अर्थात् तू जीवात्मा शरीररूप है, तो परमात्मा उस तेरा आत्मारूप है ॥ स्वयं भी अपना आत्मा जान कर परमात्मा की उपासना करते हैं । यथा—

अहं ब्रह्मास्मि

मेरा (जीव का) आत्मा ब्रह्म है । इस लिये आपे (जीव) को शरीर और परमात्मा को आत्मा गिनकर दोनों को मिला कर ऐसे ही एक करके कहते मानते हैं कि—मनुष्योहम् । ब्राह्मणोऽहम् । कृशोहम् । स्थूलोऽहम् । मैं मनुष्य हूं । मैं ब्राह्मण हूं । मैं दुर्बल हूं । मैं मोटा हूं । इत्यादि वाक्यों में "मैं" का अर्थ शरीर और आत्मा दोनों हैं । इसी प्रकार आत्मोपासना में भी " अहम् "=मैं का अर्थ है कि जीवात्मारूपी शरीर और परमात्मा रूपी आत्मा, इन दोनों को मिलाकर एक " अहम् " शब्द से अहंग्रह उपासना होती है । इसी प्रकार के व्याप्य व्यापकरूप संबन्ध से अभेद और स्वरूप से भेद को लेकर अनेक स्थलों में कथन हैं । जैसे—

त्वं वा भगवोदेवतेऽहमस्मि अहं वा त्वमसि०

हे भगवन् देव ! तू मैं हूं वा मैं तू है । इत्यादि ॥

स्वामी शङ्कराचार्यादि अद्वैतवाद का तात्पर्य आत्मोपासना में भी यही घड़ते हैं कि आत्मा परमात्मा स्वरूप से एक है । परन्तु ऐसा होता तो यह वाक्य कैसे संगत होते कि—

एष तआत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ बृ० ३ । ७ । ३

एष तआत्मा सर्वान्तरः ॥ बृ० ३ । ४ । १

अर्थ—यह अमर अन्तर्यामी तेरा आत्मा है ।

सब का अन्तर्यामी यह तेरा आत्मा है ।

यहां तेरा न कह कर 'तू' ही कहना चाहिये था ॥ ३ ॥

प्रश्न—तब तो मूर्त्ति आदि प्रतीक में भी व्यापक ब्रह्म को आत्मारूप से उपासना करना ठीक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि—

४८१—न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(प्रतीके) प्रतीक=मूर्त्ति आदि में (न) आत्मोपासना नहीं बनती (हि) क्योंकि (सः) वह प्रतीक (न) आत्मा नहीं है ॥

अपने आत्मा (जीव) में तो आत्मोपासना हो सकती है । क्योंकि वह आत्मा=आपा है, परन्तु जड़ प्रतीक में आत्मोपासना इस लिये नहीं हो सकती कि वह उपासक का आत्मा=आपा नहीं, भिन्न है ॥ ४ ॥

प्रश्न—तो फिर "आदित्योब्रह्म" वा "मनोब्रह्म" वा "अन्नं ब्रह्म" इत्यादि वचनों में आदित्य, मन वा अन्न को ब्रह्म शब्द से कहा क्यों देखा जाता है? उत्तर—

४८२—ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

पदार्थ -(ब्रह्मदृष्टिः) ब्रह्म शब्द का प्रयोगदर्शन (उत्कर्षात्) बड़प्पन से है ॥

आदित्य, मन वा अन्न आदिकों के महत्त्व को बोधन करने को वहां वहां इन्हें ब्रह्म=बड़ा कहा है । परमात्मार्थ में वहां ब्रह्म शब्द नहीं है ॥५॥

४८३—आदित्यादिमतयश्चाङ्गउपपत्तेः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(उपपत्तेः) उपपन्न होने से (आदित्यादिमतयः) आदित्यादि बुद्धियें (च) तो (अङ्गे) अङ्ग में [घटती हैं] ॥

प्रश्न यह होता था कि यदि प्रतीक में ब्रह्मबुद्धि करना ठीक नहीं, तो—

य एवाऽसौ तपति तमुद्गीथमुपासीत ॥ छां० १ । ३ । १

इत्यादि में कहे अनुसार आदित्यादि को उद्गीथ का प्रतीक मान कर उपासना क्यों कही है? उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि अङ्ग में यह प्रतीकोपासनायें उपपन्न हो सकती हैं । उद्गीथ यज्ञ का अङ्ग है । उस की उत्कृष्टता जंचाने के लिये आदित्य=सूर्य को प्रतीक मानना उपपन्न हो सकता है, परन्तु मुख्य हमारे आत्मा=जीवात्मारूप शरीर का आत्मा तो परमात्मा ही हो सकता है, यही उपपन्न हो सकता है, अन्य सूर्यादि प्रतीक आत्मबुद्धि करने को उपपन्न नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

प्रश्नः—परमात्मा में अपने जीवात्मा-रूपी शरीर के आत्मा को धारण करने की क्या रीति है ? क्या चलते फिरते वा लेटते हुवे भी उस की यह उपासना सिद्ध हो सकती है ? उत्तर—नहीं, किन्तु—

४८४—आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(आसीनः) बैठा हुवा उपासक हो, (संभवात्) क्योंकि बैठ कर ही उपासना ठीक २ संभव है ॥

चलने फिरने में अन्यत्र ध्यान जायगा, लेटने में आलस्य निद्रा तन्द्रादि विघ्न होंगे । इस लिये बैठ कर विधिपूर्वक योगशास्त्रानुसार आसन लगा कर ही उपासना करनी संभव है ॥ ७ ॥

४८५—ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

पदार्थः—(ध्यानात्) ध्यान से (च) भी ॥

केवल बैठा ही न रहना चाहिये, प्रत्युत ध्यान से भी उपासना में काम पड़ता है । ध्यान का अर्थ यहां यह है कि अङ्गों की सब चेष्टाओं को शिथिल (सुलतयी) करके दृष्टि को थांभ कर एकत्र एकाग्र चित्त रखना ॥ ८ ॥

४८६—अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

पदार्थः—(च) और (अपेक्ष्य) अपेक्षा करके (अचलत्वम्) अचल होना आवश्यक है ॥

उपासक को हिलना जुलना भी वर्जित है । वह पृथिवी के समान अचल होकर बैठे । जैसे चन्द्रादि की अपेक्षा पृथिवी अचल है, अपनी परिधि में और मार्ग में चाहे चलती भी हो, तथैव उपासक के श्वास प्रश्वासादि तथा तदुत्पन्न रक्तसंचालनादि चाहे होते रहेंगे, परन्तु उस को अन्य चञ्चल मनुष्यादि की अपेक्षा से अचल बनना चाहिये ॥ ९ ॥

४८७—स्मरन्ति च ॥ १० ॥

पदार्थः—(च) और (स्मरन्ति) स्मृतिकार भी कहते हैं ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥ भ० जो० ६ । ११

इत्यादि महाभारतादि के प्रणेता व्यासस्मृति आदि के कर्त्ता व्यासादि महामुनि लोग भी स्थिरता=अचलता का उपदेश करते हैं ॥ १० ॥

प्रश्नः—क्या दिशा देश कालादि का उपासना में नियम है ? उत्तर—नहीं, किन्तु—

४८८–यत्रैकाग्रता तत्राऽविशेषात् ॥ ११ ॥

पदार्थः–(यत्र) जहां (एकाग्रता) एकाग्रमनस्कता हो (तत्र) वहीं उपासना कर सकते हैं (अविशेषात्) विशेष नियम न होने से ॥

प्रश्नः–श्वेताश्वतरोपनिषदादि में तो उपासना के विशेष नियम कहे हैं? यथा–

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ श्वे० २ । १० ॥

भावार्थः–योग कैसे स्थान में करे, यह कहते हैं–पूर्वोक्त योगी (समे) चौरस (शुचौ) पवित्र (शर्करावन्हिबालुकाविवर्जिते) बजरी अग्नि और बालू से रहित (शब्दजलाश्रयादिभिः) शब्द और सिलाबी आदि से रहित (मनोऽनुकूले) मन को भावते (न तु) (चक्षुपीडने) आंखों को दुःख न देने वाले (गुहानिवाताश्रयणे) एकान्त और वायु के झोकों से रहित देश में (प्रयोजयेत्) योग करे ॥

अर्थात् ऐसा स्थान हो जहां ऊंचा नीचा न हो, दुर्गन्ध न हो, पत्थर की बजरी चुभती न हो, अग्नि का ताप न हो, बालु उड़कर देह में न लगता हो, क्रूर वा ऊंचा शब्द न सुनाई पड़े, जल की सील न हो और (आदि शब्द से) सर्प भेड़िये आदि का स्थान भी न हो, देखने में आंखों को बुरी लगने वाली कोई वस्तु सामने न हो, एकान्त हो, वायु प्रबल न चलता हो, ऐसे मन के अनुकूल देश में योगाभ्यास करना चाहिये ॥

उत्तर–इस में "मनोनुकूले" कहा है कि जो दिशा देश काल मन के अनुकूल हों, विशेष पूर्वादि दिशा, पूर्वाह्णादि काल वा पर्वतादि देश का बन्धन नहीं है । अन्य जो नियम हैं, वे भी यथेष्ट एकाग्रता के साधन में जो २ उपयुक्त संभव समझे, वे रक्खे, अन्य विशेष नियम बन्धन नहीं है ॥११॥

प्रश्नः–क्या सारी आयु उपासना करता रहे, वा कुछ काल तक करके छोड़ दे सकते हैं? उत्तर–

४८९–आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

पदार्थः–(आप्रायणात्) देह छूटने तक बराबर उपासना करनी चाहिये (हि) क्योंकि (तत्र) उस आजन्मकाल में (अपि) भी (दृष्टम्) देखा गया है ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन ॥ गी० ८ । १०

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ गी० ८।६॥

इत्यादि वचनों में कहा है कि मरण पर्यन्त विशेष कर मरणसमय में जिस २ भाव को स्मरण करता हुवा मनुष्य देह को त्यागता है, उसी भाव से प्रभावित हुवा उसी को प्राप्त होता है ॥ इस लिये अध्यायारम्भ में जो पुनः पुनः आवृत्ति कही थी, वह आवृत्ति जीवन भर करते रहना चाहिये ॥१२॥

४९०—तदधिगमउत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(तदधिगमे) उस उपासना के फलीभूत होने पर (उत्तरपूर्वाघयोः) अगले पिछले पापों के (अश्लेषविनाशौ) बिलगाव और नाश हो जाते हैं (तद्व्यपदेशात्) इस बात का शास्त्रों में कथन होने से ॥

ब्रह्मज्ञान होने पर पूर्व पाप का नाश कुछ भोगसे कुछ पुण्यसे होता है,अगले पाप का बिलगाव इस लिये हो जाता है कि ज्ञानी पाप करता ही नहीं ॥१३॥

प्रश्न—अच्छा तो पाप का दूरीकरण तो मान लिया, परन्तु पुण्य का फल तो भोगना पड़ेगा, तब मुक्ति कैसे होगी ? उत्तर—

४९१—इतरस्याऽप्येवमऽसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पदार्थः—(इतरस्य) पाप से इतर [पुण्य] का (अपि) भी (असंश्लेषः) लगाव=बन्धन नहीं रहता (तु) परन्तु (पाते) शरीरपात होने पर ॥

पुण्य कर्म भी निष्काम होने से बन्धन का हेतु नहीं रहते, केवल उस शरीर रहने तक भुगते जाते हैं ॥ १४ ॥

प्रश्न—ज्ञानी के पाप पुण्य इस प्रकार फल भोगवाकर ही शान्त होते हैं वा विना भोगे भी ? उत्तर—

४९२—अनारब्धकार्ये एव तु तदवधेः ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अनारब्धकार्ये) जिन का फल=कार्य आरब्ध नहीं हुवा, (एव) वैसे ही (तु) तो । क्योंकि (तदवधेः) उन की अवधि शरीर पात पर क्षीण हो चुकी ॥ १५ ॥

प्रश्न—जब पाप पुण्य शेष रहे, तो वे अपना कार्य=जन्म क्यों न देंगे, वे क्यों विलग हो जावेंगे ? उत्तर यह है कि उन की अवधि हो जाने से मुक्ति के नियत समय तक वे कार्य =जन्म=शरीरबन्धन का आरम्भ न कर के ही तो स्थगित (मुलतवी) वा क्षीण रहते हैं ॥ १५ ॥

प्रश्न—तो फिर अग्निहोत्रादि कर्म भी ज्ञानी को करना व्यर्थ हैं, मुक्ति में उन की क्या आवश्यकता होगी ? उत्तर—

४९३—अग्निहोत्रादि तु कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(अग्निहोत्रादि) अग्निहोत्र सन्ध्यावन्दनादि कर्म (तु) तो (कार्याय) ब्रह्मज्ञान के फल रूप मुक्ति के लिये (एव) ही हैं (तद्दर्शनात्) क्योंकि वैसा विधान देखा जाता है ॥

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेनेत्यादि (बृ० ४ । ४ । २२)

इत्यादि शास्त्र में देखा जाता है कि वेद का स्वाध्याय और यज्ञ दानादि सुकृत तो मुक्ति और ज्ञान के जनक हैं, उन की अनावश्यकता नहीं कह सक्ते ।

कैसा नैष्कर्मण्य का विरोध सूत्र करता है । अब भी कर्मविरोधी वर्त्तमान वेदान्तिब्रुवों की आंखें न खुलेंगी ॥ १६ ॥

४९४—अतोन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

पदार्थः—(अतः) इस से (अन्या) दूसरी (अपि) भी युक्ति है (हि) निश्चय जानो (एकेषाम्) कई एक आचार्यों के मत से (उभयोः) हम दोनों=व्यास और जैमिनि के मत से भी ॥

हम दोनों व्यास और जैमिनि, अन्य कई आचार्यों के मत से यह भी जानते और मानते हैं कि अग्निहोत्रादि कर्म मुक्तिफल के साधन हैं, इस संबन्ध में अन्य भी उक्ति युक्ति है, जो अगले सूत्र में बताते हैं किः—॥ १७ ॥

४९५—यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

(यत्) जो (एव) ही (विद्यया) ज्ञान से होता है (इति) वही (हि) निश्चय [कर्म से भी] ॥

१-य एवं विद्वान्यजति । २-य एवं विद्वान् जुहोति । ३-य एवं विद्वान् शंसति । ४-य एवं विद्वान् गायति । ५-तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नाऽनेवंविदम् ॥ छां० ४ । १७ । १०, । ६-तनोभौ कुरुतोयश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद ॥ छां० १ । १ । १०, । ७-विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयंसह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ यजु: अ० ४० ॥

इत्यादि प्रमाणों से पाया जाता है कि ज्ञान के साथ कर्म भी त्याज्य वा उपेक्षणीय नहीं, किन्तु अवश्य ग्राह्य है । इस लिये जो विद्या=ज्ञान से फल (मुक्ति) होता है, वह कर्म और उपासना तथा विज्ञान से भी ॥१८॥

यदि कहो कि कर्म करते रहने से भोगार्थ जन्म आवश्यक होगा, मुक्ति रुकेगी । तो उत्तर-

४९६-भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥

पदार्थः-(इतरे) अन्य आचार्य (तु) तो मानते हैं कि (भोगेन) भोग से (क्षपयित्वा) भुगतान करके वा क्षीण करके (संपद्यते) जीव मुक्ति को पाता है ॥

भोग से कर्म क्षीण अर्थात् निर्बल पड़जाता है, और ज्ञान की प्रबलता से जन्म और तत्कृतभोग आवश्यक नहीं रहता, तब मुक्ति होजाती है ॥१९॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते
वेदान्तदर्शन भाषानुवादयुते भाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य
प्रथमः पादः
॥ १ ॥

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्यायस्य

द्वितीयः पादः

अब अपरा विद्याओं में फलप्राप्ति के लिये देवयान मार्ग की अवतरणिका करने को प्रथम मुक्ति के अधिकारी का देहत्याग का क्रम बतलाते हैं.—

४१७—वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

पदार्थः—(वाक्) वाणी की वृत्ति (मनसि) मन की वृत्ति में समाजाती है (दर्शनात्) प्रत्यक्ष प्रमाण से (च) और (शब्दात्) शब्द प्रमाण से ॥

जब देहत्याग का समय आता है तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि बोलने की वृत्ति मन की वृत्ति में चली जाती है। मुमूर्षु पुरुष का बोलना बन्द हो जाता है, और वह मन से बोलता रहता है। शब्द प्रमाण से भी यह पाया जाता है कि—

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्॥ छां० ६।८।६॥

हे सोम्य ! प्रयाण करते हुवे मनुष्य की वाणी मन में संपन्न हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परले आत्मा देव में ॥

प्रश्नः—वाक् का अर्थ वाणी ही सीधा क्यों न किया, मन का अर्थ सीधा मनस्तत्त्व ही क्यों न किया गया। वाणी की वृत्ति मन की वृत्ति में जाती कह कर दोनो जगह वृत्ति शब्द क्यों बढ़ाया गया ?

उत्तर—इतना बढ़ा कर इस लिये अर्थ किया गया कि वाणी तत्त्व की उत्पत्ति मनस्तत्त्व से नहीं होती, तब प्रलय भी उस में नहीं कह सकते। हां, वृत्ति तो भिन्न तत्त्वों की भी भिन्न तत्त्वों में होती हैं। जैसे—पृथिवी के विकार इन्धनादि से अग्नि की वृत्ति (लपट) निकलती और जल में लय हो जाती है। इस लिये वक्ता का आशय तत्त्व के लय से नहीं जान पड़ता, वृत्ति का लय ही विवक्षित जान पड़ता है। इसी बात को प्रत्यक्ष देखते और शब्द प्रमाण में भी बता सकते हैं ॥ १ ॥

४९८–अतएव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

पदार्थः–(च) और (अतएव) इसी से (सर्वाणि) सब (अनु) क्रम से जाते हैं ॥

इस वाणी से लेकर अन्य सब इन्द्रियों की वृत्तियें भी मन में ही चली जाती हैं। अर्थात् देखने की वृत्ति, सुनने की वृत्ति, चखने की वृत्ति, सूंघने की वृत्ति, छूने की वृत्ति, चलने की, पकड़ने की, मलत्याग की; ये सभी वृत्तियें मन की वृत्तियों में रह जाती हैं ॥ २ ॥

४९९–तन्मनः प्राणउत्तरात् ॥ ३ ॥

पदार्थः–(तत्) वह (मनः) मन (प्राणे) प्राण में [लीन हो जाता है] (उत्तरात्) अगले वाक्य से ॥

ऊपर छान्दोग्य के वचन में प्रथम वाक्य में वाणी का मन में लय जहां कहा है, वहीं अगले वाक्य (मनः प्राणे) में मन का प्राण में लय कहा है। इस कारण उस वाणी आदि की वृत्तियों का अपनी वृत्तियों में लय हुवे मन का अर्थात मन वृत्तियों का लय प्राण की वृत्तियों में हो जाता है ॥ वृत्ति अर्थ की विवक्षा का वही कारण है जो सूत्र १ में कहा गया था ॥३॥

५००–सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

पदार्थः–(सः) वह प्राण (अध्यक्षे) जीवात्मा में [चला जाता है] (तदुपगमादिभ्यः) उस के समीप जाने आदि से ॥

शास्त्रों में ऐसे वचन पाये जाते हैं कि शरीर छूटते समय जीवात्मा के साथ प्राण समीपवर्त्ती वा अनुगामी होकर जाते हैं, इत्यादि हेतुओं से प्राण का अध्यक्ष (जीवात्मा) में जाना समझना चाहिये। यथा–

इममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभि
समायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥

इस आत्मा को अन्त समय में सब प्राण सब ओर से समाजाते हैं, जब कि यह ऊर्ध्वश्वास होता है ॥

तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति ॥ बृ० ४ । ४ । २ ॥

देह से प्रस्थान करते हुवे उस (जीव) के साथ प्राण अनुप्रस्थान करता है ॥

प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ॥ बृ० ४ । ४ । २ ॥

अनुप्रस्थान करते हुवे मुख्य प्राण के साथ अन्य सब प्राण भी अनुप्रस्थान करते हैं ॥

यदि कहो कि प्रथम सूत्रभाष्य में कह चुके हो कि "प्राणस्तेजसि" प्राण तेज में जाता है, यहां फिर प्राण का आत्मा में जाना विरुद्ध हुवा तो उत्तर—एक मनुष्य आगरा से मथुरा, मथुरा से पटना जाता है, तब दोनों ही बात ठीक हैं कि आगरा से मथुरा जाना, वा आगरा से पटना जाना, बीच की मथुरा का न कहना ऐसा ही समझा जायगा, जैसे अन्य कानपुर प्रयाग काशी आदि का न कहना । ऐसा ही यहां समझो कि प्राण तेज में जाकर फिर आत्मा में जाता है, तब प्राण आत्मा में जाता है, यह कहना विरुद्ध नहीं ॥ ४ ॥

५०१—भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

पदार्थः—वह [प्राण से जुटा हुवा जीव] (भूतेषु) सूक्ष्म भूतों में समा जाता है (तच्छ्रुतेः) इस का श्रवण करने से ॥ ५ ॥

प्रश्नः—प्रथम तो एक तेज ही उपनिषद्वाक्य में कहा था, यहां सूत्र में सर्व भूतों का कथन कैसे किया गया ? उत्तर—

५०२—नैकस्मिन्दर्शयतोहि ॥ ६ ॥

पदार्थः—(एकस्मिन्) एकले तेज में (न) नहीं, (हि) क्योंकि (दर्शयतः) उपनिषद् और स्मृति दिखलाती हैं ॥

"पृथ्वीमय आपोमयोवायुमयआकाशमयस्तेजोमयः"

इत्यादि उपनिषद् तथा—

अण्व्योमात्राऽविनाशिन्योदशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिःसार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥

इत्यादि स्मृतियों में दिखलाया गया है कि १ तेज के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म भूत भी आत्मा के साथ जाते हैं ॥ सूत्र ३ । १ । २ में भी ऐसा ही कह आये हैं ॥ ६ ॥

५०३—समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

पदार्थः—(समाना) एकसी (च) ही है (आसृत्युपक्रमात्) गमन के उपक्रम पर्यन्त । (च) और (अनुपोष्य) आप्यायन करके (अमृतत्वम्) मुक्ति होती है ॥

मुक्ति को जाने वाले ज्ञानी और जन्मान्तर को जाने वाले कर्मी की उत्क्रान्ति तो दोनों की समान ही है अर्थात् दोनों दशाओं में देहत्याग की रीति प्राणादि का अनुगमन एकसा है। हां, अनुपोषण करके फिर अमर नाड़ी द्वारा मुक्ति का अधिकारी देवयानमार्ग से मुक्ति पाजाता है, जन्मान्तर का अधिकारी पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोकादि लोकों में जन्मान्तर को धारण करलेता है ॥ ७ ॥

५०४-तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

पदार्थः—(तदा) तब (आऽपीतेः) मोक्ष से पूर्व तक (संसारव्यपदेशात्) जन्म मरण का कथन होने से ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ क० ५।७

कोई शरीर पाने के लिये चर प्राणियों की योनि को प्राप्त होजाते हैं, कोई स्थावर देहों को लिपट जाते हैं, जैसा जिस का ज्ञान और कर्म होता है॥८॥

५०५-सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

पदार्थः-(प्रमाणतः) परिमाण से (च) और स्वरूप से (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म होता है (तथा) इसी प्रकार (उपलब्धेः) उपलब्ध होने से ॥

जब प्राणादि को साथ लेकर जीव निकलता है, तब उस का स्वरूप सूक्ष्म होता है, इस कारण उपलब्ध भी यही होता है कि वह अतीन्द्रिय सूक्ष्म है, क्योंकि निकलता हुवा इन्द्रियों का विषय नहीं होता ॥ ९ ॥

५०६-नोपमर्देनाऽतः ॥ १० ॥

पदार्थः—(अतः) इसी सूक्ष्म होने के कारण से (उपमर्दन) दाहादि तोड़ फोड़ से भी (न) कुछ पाया नहीं जाता कि कहां गया ॥ १० ॥

५०७—अस्यैव चोपपत्तेरेषऊष्मा ॥ ११ ॥

पदार्थः-(च) और (अस्य) इस सूक्ष्म की (एव) ही (उपपत्तेः) उपपत्ति होने से (एषः) यह आत्मा (ऊष्मा) गर्म है ॥

मरने वाला ठण्डा, जीने वाला गरम पाया जाता है, इस लिये उपपन्न= सिद्ध यही होता है कि यह आत्मा सूक्ष्म और गरम है ॥ ११ ॥

५०८-प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (प्रतिषेधात) उत्क्रान्ति का निषेध होने से, तौ (न) नहीं क्योंकि (शारीरात) अज्ञानी वा कर्मी शरीर बन्धन वाले आत्मा से उत्क्रान्ति प्राणों की है, मुक्त की नहीं ॥

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ॥ बृह० ४ । ४ । ६ । वा-
न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति ॥ शाखान्तरे ।

चाहे पञ्चमी (तस्मात) पाठ हो, चाहे षष्ठी(तस्य)पाठ हो, दोनों दशाओं में शरीर से उत्क्रान्ति का प्रतिषेध नहीं, शारीर=आत्मा से उत्क्रान्ति का निषेध है जो कहा गया है कि मुक्ति पाने वाले को प्राणों के वियोग तक की भी देरी नहीं लगती, जहां का तहां ही मुक्त हो जाता है ॥ १२ ॥ क्योंकि-

५०९-स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

पदार्थः-(एकेषाम्) कई आचार्यों के कथन से (हि) तौ (स्पष्टः) यह विषय स्पष्ट ही है ॥

बृहदारण्यक ३ । २ । ११ में-प्रश्नः-

यत्राऽयं पुरुषोम्रियतउदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति ॥

जहां यह पुरुष मरता है, इस (पुरुष) से प्राण अलग होते हैं वा नहीं ? उत्तर-

नेति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ बृ० ३ । २ । ११ ॥

याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा कि "नहीं" ॥

इस से स्पष्ट ही कहा गया है कि देह से उत्क्रान्ति हो, परन्तु मुक्ति के अधिकारी के प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं होती, प्राण वहीं के वहीं बैठ रहते हैं, मुक्त को बांध नहीं सक्ते ॥ १३ ॥

५१०-स्मर्यते च ॥ १४ ॥

पदार्थः—(स्मर्यते) स्मृति में कहा (च) भी है ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥

इत्यादि स्मृतियों में कहा भी है कि—सब भूतों का आत्मा बन जाने वाले, सब भूतों के साक्षी (मुक्त पुरुष) के मार्ग में देवता (सूक्ष्म भूतादि) भी भूल जाते हैं, जो कि अपद (वेनिशान) पद को चाहता है, उसके ॥१४॥

५११—तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

पदार्थः—(तानि) वाणी, मन, भूत इत्यादि वे सब (परे) परमात्मा में रहते हैं (तथा हि) ऐसा ही (आह) शास्त्र कहता है ॥

एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्याऽस्तं गच्छन्ति ॥ प्रश्नोपनिषदि ६ । ५ ॥

इसी प्रकार इस सर्वतोद्रष्टा की १६ कलायें पुरुषपरायण हुई पुरुष (परम आत्मा) को पाकर अस्त हो जाती हैं ॥

इत्यादि शास्त्र कहता है कि मुक्त पुरुष के साथ शरीर से निकले प्राणादि सब कला विशेष परमात्मा में लीन हुवे अस्त हो जाते हैं, मुक्ति पाये पुरुष का पीछा छोड़ देते हैं ॥ १५ ॥

५१२—अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(अविभागः) विभाग नहीं रहता (वचनात्) शास्त्रवचन से ॥

प्रश्न—मुक्त पुरुष के प्राणादि को परमात्मा विभागपूर्वक उस के नाम से अलग जमा रखता है, वा विभु प्राणादि में एकमेक कर डालता है ? उत्तर—शास्त्र के वचन से पाया जाता है कि विभाग नहीं रहता । यथा—

भिद्येते तासां नामरूपे ॥ प्रश्नोप० ६ । ५ ॥

उन प्राणादि कलाओं के नाम रूप नष्ट हो जाते हैं ॥ १६ ॥

५१३—तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

पदार्थः—(तदोकोग्रज्वलनं) उस=मुमुक्षु के स्थान=हृदय का अग्रभाग

प्रकाशित होता है, (तत्प्रकाशितद्वारः) तब उस प्रकाश से द्वार प्रकाशित होता है जिस का, ऐसा मुमुक्षु का आत्मा (शताधिकया) १०१ वीं नाड़ी के द्वारा (हार्दानुगृहीतः) हृदयवर्त्ती प्रकाश की सहायता पाया हुवा [निकलता है] क्योंकि (विद्यासामर्थ्यात्) ब्रह्मज्ञान के बल से (च) और (तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्) विद्याशेष ऊर्ध्व द्वार गति की अनुस्मृति पाने से ॥

मुमुक्षु पुरुष को ब्रह्मविद्या का सामर्थ्य होता है, तथा ब्रह्मविद्या की सहवर्तिनी वह गति भी ज्ञात होती है कि मुक्तात्माओं के देह से निकलने का अमुक ऊर्ध्व मार्ग है कि हृदय की १०१ नाड़ियों में से १ नाड़ी मूर्धा को गई है, बस यह जानताहुवा आत्मा अपने हृदयस्थ प्रकाशकी सहायतासे जान बूझ कर उसी रास्ते से निकलता है। छान्दोग्योपनिषद् ८।६।७ में कहा है कि—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

हृदय की नाड़ी सौ और एक=१०१ हैं, उन में से एक मूर्धा की ओर निकली है, उसी से ऊपरको जाने वाला अमरभाव (मुक्ति) को पाता है, अन्य नाड़ियें उत्क्रमणसमय तिरछी होजाती हैं ॥१७॥ फिर कहां जाता है? उत्तर—

५१४—रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

पदार्थः—(रश्म्यनुसारी) सूर्य की किरणों के सहारे अनुसरण करके जाता है ॥१८॥

तो फिर रात्रि में मरने वाले मुक्ति नहीं पाते होंगे? क्योंकि सूर्यकिरणें रात में नहीं मिल सकतीं? उत्तर—

५१५—निशि नेति चेन्न, संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥१९॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (निशि) रात्रि में (न) नहीं, सो (न) नहीं, क्योंकि (संबन्धस्य) सूर्यकिरणों के संबन्ध के (यावद्देहभावित्वात्) समस्त देह से होने के कारण (च) और (दर्शयति) शास्त्र भी दर्शाता है ॥

यह संदेह नहीं है कि रात्रि में मरने से मुक्ति नहीं, क्योंकि सूर्य का संबन्ध रात्रि में भी देह की नाड़ियों से बना रहता है। यथा—

अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ छां० ८।६।२॥

इस सूर्यलोक से फैलती हुई नाड़ियें इस मनुष्यदेह की नाड़ियों तक पुर रही हैं, और ये नाड़ियें सूर्य तक तार बांध रही हैं ॥ १९ ॥

५१६—अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

पदार्थः—(च) और (अतः) इसी कारण (दक्षिणे अयने) दक्षिणायन में (अपि) भी मुक्ति में रुकावट नहीं ॥

भीष्मपितामह का उत्तरायण की प्रतीक्षा करना, उत्तरायण की उत्तमता प्रकाशनार्थ है। रुकावट दक्षिणायन में भी नहीं हो सकती ॥२०॥

५१७—योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्त्ते चैते ॥ २१ ॥

पदार्थः—(च) और (योगिनः प्रति) योगी के प्रति (स्मर्यते) भीष्म पितामहादि का वृत्तान्त भारतादि में स्मरण किया गया है (च) और (एते) ये दो गतियें (स्मार्त्ते) स्मृतिप्रतिपादित हैं ॥

क्योंकि स्मृत्यादि शास्त्रकार वेदानुसार स्मरण करते हैं कि देवयान पितृयाण दो गतियें हैं, उन का सम्बन्ध उत्तरायण दक्षिणायन, शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष और दिन रात्रि से है, इस लिये भीष्म को योगबल प्राप्त था, उस ने उस से काम लिया, परन्तु ज्ञान के प्राबल्य में रात्रि, दक्षिणायन वा कृष्णपक्ष कोई भी मुमुक्षु को अटल रुकावट नहीं डालसकता ॥ २१ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते
वेदान्तदर्शन भाषानुवादयुते भाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयः पादः
॥ २ ॥

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्यायस्य

तृतीयः पादः—

५१८—अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

पदार्थः—(तत्प्रथितेः) उस के विख्यात होने से (अर्चिरादिना) किरणादि से [जाते हैं] ॥

पूर्व पाद में यह कहा गया कि मुक्त अमुक्त दोनों की देह त्याग समान है। अब यह बताते हैं कि मुक्ति का मार्ग क्या है, नाना मार्ग हैं वा कोई एक ही। यह सूत्र उत्तर देता है कि प्रथम अर्चि अर्थात् सूर्यकिरणों पर गमन करता, फिर वायु में, फिर वरुण में, फिर इन्द्रलोक अर्थात् ऐश्वर्य में, फिर सूत्रात्मा में, फिर ब्रह्म मात्र में ॥

स एतं देवयानं पन्थानमापद्याऽग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकं, स वरुणलोकं, स इन्द्रलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकम् ॥ कौ० १ । ३ ॥

इसी प्रकार अन्य बहुत स्थलों में यह देवयान प्रथित (विख्यात) है यथा—

१—अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते ॥ छा० ८ । ६ । ५ ॥

२—सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति ॥ मुण्ड० १ । २ । ११ ॥

३—स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति ॥

छां० ८ । ६ । ५ ॥

४—तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्ति, अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षम्, आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरं, संवत्सरादादित्यम् ॥ छां० ५ । १० । १—२ ॥

५—मासेभ्यो देवलोकं, देवलोकादादित्यम् ॥ बृ० ६ । २ । १५ ॥

इन सब प्रमाणों में भिन्न प्रकार से वर्णन है, तौ भी अर्चिरादि द्वारा सर्वत्र ही मोक्षाधिकारी की गति देवयान रूप १ एक ही मार्ग से कही गई है, चाहे वायु, वरुण, इन्द्र, प्रजापति आदि मार्ग के पर्वे=पड़ाव अनेक हों, तौभी शीघ्र ही मुक्ति मानी जाती है, क्यों कि कहीं भी रुकावट नहीं है ॥१॥

५१९—वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

पदार्थः—(अब्दात्) संवत्सर से (वायुम्) वायु को प्राप्त होता है। उस में दोनों हेतु हैं—(अविशेषविशेषाभ्याम्) सामान्य और विशेष दोनों कथनों से ॥

स वायुलोकम् ॥ कौ० १ । ३ ॥

इत्यादि अविशेष=सामान्य से वायुलोकगमन कहा है, तौ—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति, तस्मै स विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं, तेन स ऊर्ध्व माक्रमते, स आदित्यमागच्छति ॥ बृ० ५ । १० । १ ॥

यहां विशेष रीति से वायु में गमन कहा है कि—

जब पुरुष इस संसार से कूंच करता है तौ वह वायु को प्राप्त होता है, वह उस में मार्ग देता है, जैसे रथ के पहिये को धुरे का आकाश, उस से वह ऊपर को आक्रमण करता और सूर्यलोक को प्राप्त होता है। इत्यादि में वायु को संवत्सर के पश्चात् और सूर्यलोक से पूर्व=बीच में विशेषतः पाना कहा है ॥ २ ॥

५२०—तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तडितः) विद्युत् से (अधि) ऊपर वा पश्चात् (वरुणः) वरुणलोक प्राप्त होता है क्योंकि (संबन्धात्) विद्युत् और वरुण का पूर्वाऽपर सम्बन्ध है ॥

आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतम् ॥ छां० ४ । १५ । ५ ॥

आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को ॥ विद्युत् से वरुण का

सम्बन्ध है, इसलिये विद्युत् से वरुणलोकप्राप्ति समझनी चाहिये। क्योंकि जब विशाला विद्युत् चमकती, और तीव्र गर्जना करती हैं और बादलों में नृत्य करती हैं, तो वर्षा होती है, वर्षा के जल का वरुण अधिपति है। इस प्रकार वरुण के पीछे इन्द्र और प्रजापति=सूत्रात्मा का संबन्ध होगा॥३॥

प्रश्न—किरण वायु विद्युत् वरुण इन्द्र प्रजापति आदि पदार्थ उस मोक्षाधिकारी के मार्गचिन्ह हैं, वा भोगस्थान हैं अथवा केवल मुक्ति (ब्रह्मलोक) को पहुंचाने के साधनमात्र हैं? उत्तर—

५२१—आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

पदार्थः-(तल्लिङ्गात्) उस का लिङ्ग पाये जाने से (आतिवाहिकाः) केवल पहुंचाने के साधन हैं॥

चन्द्रमसोविद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः
स एतान् ब्रह्म गमयति ॥ छां० ४ । १५ । ५ ॥

इस में यह हेतु पाया जाता है कि चन्द्रमा से विद्युत्, जो मनुष्य नहीं है, वही इन मोक्षाधिकारियों को ब्रह्म की प्राप्ति कराता है। इस से चन्द्रादि नहीं तो भोगस्थान होते, न केवल मार्गचिन्ह, केवल क्रम से सब प्रकार के शरीरों से छुटकारा पाने और केवल ब्रह्मतत्त्व का आश्रय दिलाने वाले आतिवाहिक (एक प्रकार से सवारी के सदृश) समझो॥ ४॥

५२२—उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(उभयव्यामोहात्) ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही को व्यामोह अर्थात् सूक्ष्म शरीर के समस्त करणों के सिमटा रहने से (तत्सिद्धेः) आतिवाहिक चन्द्रादि साधनोंके सिद्ध होनेसे [आतिवाहिक ही उनको समझो॥

मोक्षार्थी ज्ञानी हो, चाहे वह पुनर्जन्म का पाने वाला हो, दोनों ही को देहत्याग कर जब तक सूक्ष्म वा लिङ्ग शरीर का साथ है, तब तक व्यामोह (मूर्छा की दशा) रहती है। तब न तो मोक्षार्थी किरणादि को मार्गचिन्ह जान कर चीन्ह सकता, न वहां कोई भोग भोग सकता, इस से अर्चिरादि का आतिवाहिक (अचेतन सवारी के सदृश) होना ही सिद्ध होता है, अर्थात् किरणादि में जाता जाता क्रम से सर्व शरीरों से मुक्त हो कर केवल ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हो जाता है॥ ५॥

प्रश्न-जब वैद्युत अमानव शरीर ही ब्रह्म तक पहुंचा सकता है, तो अन्य वरुणादि की क्या संगति होगी ? उत्तर-

५२३-वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

पदार्थः-(वैद्युतेन) विद्युत्सम्बन्धी शरीर से (व) ही (ततस्तच्छ्रुतेः) वहां से उस के श्रुतिप्रमाणित होने से ॥

वैद्युतरूप से ही वरुणादि प्रजापत्यन्त स्वरूपों को पाता हुवा मुक्ति पाता है, क्योंकि श्रुति ऐसा कहती है ॥ ६ ॥

प्रश्न-अर्चिरादि प्रजापति=सूत्रात्मापर्यन्त गति कार्यरूप नाशवान् है वा नहीं ? उत्तर-

५२४-कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

पदार्थः-(कार्यम्) कार्य=करने से सिद्ध है (बादरिः) बादरि आचार्य ऐसा मानते हैं और (अस्य) इस मुक्ति के अधिकारी पुरुष की (गत्युपपत्तेः) गति सिद्ध होने से ॥

इस प्रकार मुक्ति पाने वाले की उन लोकों को प्राप्ति अल्पकाल की है ॥७॥

५२५-विशेषितत्वाच्च ॥८॥

पदार्थः-(विशेषितत्वात) विशेष विस्पष्ट होने से (च) भी ॥

१२ वें सूत्र में विशेष स्पष्ट कहेंगे ॥ ८ ॥

प्रश्न-जब कि "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" इत्यादि वाक्यों में मुक्त पुरुष को ब्रह्मस्वरूप होजाना कहा है,तब यह पद नाशवान् कैसे माननीय है ? उत्तर-

५२६-सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

पदार्थः-(सामीप्यात) ब्रह्म की समीपता से (तु) ही (तद्व्यपदेशः) मुक्त को ब्रह्मत्व कथन है, [स्वरूप से नहीं] ॥

प्रश्न-बहुत स्थानों में मुक्ति पद को ब्रह्मलोकप्राप्ति कहा है, तब क्या किसी देश=लोक विशेष में रहना मुक्ति है ? उत्तर, नहीं । लोक शब्द का अर्थ तत्पदप्राप्ति है । यथा-

१-लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि। शङ्करभाष्ये

लोक शब्द तो भोगस्थानों के विना भी प्रयुक्त हो सकता है ॥

२-लोकशब्दश्चात्र लोकने प्रकाशे वर्त्तयितव्यो नतु तन्निवेशवति देशविशेषे ॥ वाचस्पति मिश्र

वे० सू० ४ । ३ । १२

यहां लोक शब्द प्रकाशार्थ में घटाना चाहिये, न तु उस के रहने की जगह विशेष में ॥

३-लोकशब्दोऽपि मध्ये भोगाऽभावात् गमयितृत्वे एवोपपद्यते ॥ वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सू० ४ । ३ । ४ पर ॥

अग्निलोक वरुणलोकादि का लोक शब्द भी देशविशेषवाचक नहीं, स्वरूपवाचक है, क्योंकि भोगायतन लोकविशेष बीच में नहीं हो सकता ॥९॥

५२७-कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

पदार्थः-(कार्यात्यये) कार्य=अर्चिरादि सूत्रात्मपर्यन्त लोकों के नाश होने पर (तदध्यक्षेण) अर्चिरादि लोकाध्यक्ष के (सह) सहित (अतः) इस लोक से (परम्) पर=सूक्ष्म ब्रह्म प्राप्त होता है (अभिधानात्) शास्त्र के कथन से॥

पादारम्भ से अब तक आये सूत्रों के भाष्य में कहे शास्त्रों के प्रमाण से यह पाया जाता है कि अर्चिः=किरणादि लोकों की प्राप्ति होते २ अन्त में पर ब्रह्म मिलता है ॥ १० ॥

प्रश्नः-क्या इस पर ब्रह्म से आगे भी कहीं किसी पद की प्राप्ति होगी ? उत्तर-नहीं, क्योंकि-

५२८-स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

पदार्थः-(स्मृतेः) स्मृतिशास्त्र से (च) भी ॥

उपनिषदादि के अतिरिक्त स्मृति से भी यही बात पाई जाती है कि-

विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ मनु १२ । १२२ ॥

इत्यादि स्मृति शास्त्र भी परमात्मा को सब से पर बताता है ॥ ११ ॥

५२९-परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

पदार्थः-(जैमिनिः) जैमिनि मुनि कहते हैं कि (मुख्यत्वात्) मुख्य होने से (परम्) ब्रह्म पर अर्थात् सब से परे है । उस से आगे अन्य कुछ नहीं ॥१२॥

५२९—दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

पदार्थः-(दर्शनात्) उपनिषद् के देखने से (च) भी ॥

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति ॥ छां० ८ । ६ । ६ ॥

इत्यादि उपनिषद् में देखते हैं कि सुषुम्णा नाड़ी आदि द्वारा ऊर्ध्व गति होते होते, अन्त में अमर पद मिलता है ॥ १३ ॥

५३०—न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥१४॥

पदार्थः—(च) और (कार्ये) कार्य जगत् के अर्चिरादि लोक में (प्रतिपत्त्यभिसंधिः) मुक्ति पद प्राप्ति का जोड़ (न) नहीं है ॥

अर्थात् अर्चिरादि प्रजापत्यन्त कार्य जगत् के स्थानों वा लोकों वा स्वरूपों में ब्रह्म पद (मुक्ति) प्राप्ति का कोई जोड़ वा लगाव नहीं क्योंकि—

न तस्य प्रतिमा अस्ति ॥ यजुः तथा श्वेता० ॥

इस का प्रमाण देकर शङ्कराचार्य भी कहते हैं कि ब्रह्म की कोई प्रतिमा बराबर के जोड़ का अन्य पदार्थ नहीं है ॥ १४ ॥

५३१—अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अप्रतीकालम्बनान्) किसी जड़ प्रतीक का सहारा न लेने वालों को (नयति) मुक्ति धाम को पहुंचाता है (इति) यह (बादरायणः) बादरायण मुनि कहते हैं (उभयथा) कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनों के अनुष्ठान से (अदोषात्) दोष न होने से (च) और (तत्क्रतुः) ब्रह्मयज्ञ भी हेतु है ॥

ब्रह्मयज्ञ भी कर्मयज्ञ ज्ञानयज्ञ दोनों प्रकारों की निर्दोष होने से जड़ प्रतीक का सहारा न लेने वालों को मुक्ति पद की प्राप्ति बतलाता है। प्रतीकोपासकों को नहीं ॥ १५ ॥

५३२—विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

पदार्थः—(च) और (विशेषम्) विशेष को (दर्शयति) शास्त्र दर्शाता है ॥

छान्दोग्योपनिषद् के ७ वें प्रपाठक में सनत्कुमार नारद संवाद है । वहां नारद को सनत्कुमार ने प्रथम नाम की उपासना बतलाई । फिर नारद ने पूछा तो सनत्कुमार ने वाणी से मन को उत्तम बतलाया, मन से संकल्प को उत्तम बतलाया, इसी प्रकार चित्त ध्यान विज्ञान बल अन्न जल इत्यादि बताते हुवे अन्त में विशेष कर यही कहा है कि—

योवै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ॥ छां० ७ । ३ । १ ॥

जो भूमा महान् है वही सुख है, अल्प तुच्छ पदार्थ में सुख नहीं । भूमा ही सुखरूप है । भूमा ही तो जिज्ञासायोग्य है ॥

इस प्रकार अन्त में किसी को जिज्ञासायोग्य न बताया, केवल ब्रह्म को ही बताया है ॥१६॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते
वेदान्तदर्शनभाषानुवादयुते भाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य
तृतीयः पादः
॥ ३ ॥

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्यायस्य

चतुर्थः पादः

अब यह विचार करते हैं कि मुक्ति में जीव ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होजाता है वा अपने स्वरूप से स्वयं उपस्थित रहता है ॥

५३२—संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

पदार्थः–(संपद्य) ब्रह्म को पाकर (आविर्भावः) अपने स्वरूप से प्रकट होना है क्योंकि (स्वेन शब्दात्) स्वेन=अपने स्वरूप से,इस शब्द से ॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते ॥ इस वचन में कहा है कि परम ज्योतिः (परमात्मा) के पास जाकर 'अपने' स्वरूप से संपन्न जाता है ॥इस में स्वेन=अपने स्वरूप से, यह स्वेन शब्द है । इस से पाया जाता है कि मुक्ति में जीवात्मा के स्वरूप का ब्रह्म में लय नहीं होजाता, प्रत्युत उस का शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप बना रहता है । हां,अन्य देह अन्तःकरण आदि के बन्धन छूट जाते हैं ॥ १ ॥

५३३—मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

पदार्थः–(प्रतिज्ञानात्) प्रतिज्ञा से (मुक्तः) सर्वबन्धविनिर्मुक्त होता है ॥

किसी को यह संशय न रहे कि " अपने स्वरूप से प्रकट होता है " इस में होना कहा है, तब कदाचित् मुक्ति का कोई जन्मविशेष होता हो, क्योंकि अभिनिष्पत्ति शब्द (प्रकट होना) जन्म के पर्याय में बहुधा देखा जाता है । इस लिये यह सूत्र कहता है कि उपनिषद् में प्रतिज्ञा मुक्ति की है, जन्मधारण की नहीं ॥ यथा—

एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि ॥

(छां० ८ । ९ । ३ ॥ ८ । १० । ४ ॥ ८ । ११ । ३)

यह प्रतिज्ञा की है कि इस को ही हम तुम्हें फिर व्याख्या करके सुनावेंगे ॥ फिर—

अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः ॥

(छां० ८ । १२ । १)

शरीरबन्धरहित हुवे को निश्चय सुख दुःख नहीं छूते ॥ तथा—

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ॥

(छां० ८ । १२ । ३)

अपने स्वरूप से प्रकट होता है, वह उत्तम पुरुष ॥ तथा—

य आत्माऽपहतपाप्मा ॥ छां० ८ । ७ । १ ॥

जो आत्मा निष्पाप है॥ इत्यादि समस्त प्रकरण देखने से जाना जाता है कि न शरीर रहता, न पाप रहते, न सुख दुःखों का स्पर्श होता, केवल= मुक्त होजाता है ॥ २ ॥

प्रश्नः—परं ज्योतिरुपसंपद्यते—में यह कहा है कि बढ़िया ज्योति को प्राप्त होता है। ज्योति तो आग्नेय वा सूर्यादि भौतिक ज्योति को भी कहते हैं, तब मुक्तात्मा को क्या यही भौतिक ज्योति तो नहीं मिलजाती हो, जो अन्यों से बढ़िया होने से परमज्योति कहाती हो ? उत्तर—

५३४—आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

पदार्थः—(प्रकरणात्) प्रकरण से (आत्मा) आत्मा ही ज्योति शब्द का वहां अर्थ है ॥

तब परम ज्योति का अर्थ पर आत्मा=परमात्मा हुवा ॥ ३ ॥

प्रश्नः—मुक्त पुरुष जिस परमात्मा को पाता है, वह परमात्मा मुक्तपुरुष के अपने स्वरूप से बाहर पृथक् जान पड़ता है, वा अपृथक्=अपने में व्यापक ? उत्तर—

५३५—अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अविभागेन) अपृथक् भाव से=व्यापक भाव से, क्योंकि (दृष्टत्वात्) साक्षात् होने से ॥

यत्र नान्यत्पश्यति० छां० ७ । २४ । १

इत्यादि में देखा जाता है कि जिस मुक्तावस्था में सिवाय परमात्मा के अन्य किसी को नहीं देखता ॥ ४ ॥

प्रश्नः-तो फिर मुक्ति पाकर आनन्द कहां से पाता है ? उत्तर-

५३६-ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

पदार्थः-(जैमिनिः) जैमिनि मुनि कहते हैं कि (ब्राह्मेण) ब्रह्मसंबन्धी आनन्द से आनन्दित होता है (उपन्यासादिभ्यः) क्योंकि शास्त्रों में ऐसे उपन्यासादि पाये जाते हैं ॥

१-सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः ॥ छां० ॥ ८ । ७ । १ ॥

२-स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः ॥ ८ । १२ । ३ ॥

३-तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ७ । २५ । २ ॥

ये वचन शांकर भाष्य में भी लिखे हैं । इन से पाया जाता है कि-

१ मुक्तपुरुष को सत्य काम, सत्य सङ्कल्पादि ब्रह्मानन्द मिलता है ॥

२-मुक्ति में आनन्द का भोग और क्रीडा है ॥

३-मुक्ति में सर्वत्र अव्याहत गति है ॥

बस जैसे ब्रह्म आत्मक्रीडा, आत्मरति सर्वत्र अव्याहतवृत्ति है, वैसे जीव को भी ब्रह्मप्राप्ति से ये सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

प्रश्न-तब क्या आनन्द के भोगार्थ इन्द्रियें वा अन्तःकरण कुछ रहता है ? उत्तर, नहीं, किन्तु-

५३७-चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

पदार्थः-(औडुलोमिः) औडुलोमि मुनि (इति) ऐसा कहते हैं कि (चितितन्मात्रेण) चेतनमात्र स्वरूप से । क्योंकि (तदात्मकत्वात्) चेतन स्वरूप होने से ॥

क्योंकि मुक्ति में चेतनमात्र स्वरूप रहता है, अन्य कुछ नहीं, इस लिये उसी स्वरूप से ब्रह्मैश्वर्य को जीव भोगता है ॥ ६ ॥

प्रश्नः-ब्रह्मानन्द का भोग भी भोग ही है । तब भोग रहा तो मुक्ति क्या हुई ? उत्तर-

५३८–एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावा-
दऽविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

पदार्थः–(बादरायणः) व्यास जी स्वयं कहते हैं कि (अविरोधम्) जैमिनि और औडुलोमि से हम को विरोध नहीं। क्यों कि (एवम्) ऐसे (उपन्यासात्) ऐश्वर्य के उपन्यास से (अपि) भी (पूर्वभावात्) ऐश्वर्य से पूर्व ही सब बन्धनों के छूटने रूप भाव से विरोध नहीं है ॥

मुक्त पुरुष शरीरादि बन्धनों से पूर्व मुक्त होकर तब ब्रह्मानन्द= परमात्मैश्वर्य को अपने चेतन स्वरूप से भोगता है। इस लिये हम को अन्याचार्यों से विरोध नहीं। यह व्यास जी का अपना मत भी है॥ ७ ॥

प्रश्नः–ऐश्वर्य उपस्थित कहां से कैसे हो सकते हैं, जब कि चेतनमात्र शेष है ? उत्तर–

५३९–संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

पदार्थः–(संकल्पात्) संकल्पमात्र से (एव) ही (तु) तौ होते हैं (तच्छ्रुतेः) इस बात में श्रुतिप्रमाण से ॥

स यदि पितृलोककामोभवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ॥ छां० ८ । २ । १ ॥

वह यदि पितृलोक की कामना करता है तौ संकल्प से ही इस को पितर उपस्थित हो जाते हैं ॥ इत्यादि वचनों से पाया जाता है कि अन्य साधनों के विना ही मुक्त पुरुष के संकल्प मात्र से सब कुछ हो जाता है ॥८॥

५४०–अतएव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

पदार्थः–(अतएव) इस संकल्पमात्र के बल से ही (अनन्याऽधिपतिः) स्वतन्त्र स्वामी हो जाता है ॥

अन्य कोई उस पर आधिपत्य नहीं रखता। स्वाराज्य सिद्धि हो जाती है ॥९॥

५४१–अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

पदार्थः–(एवम्) इस प्रकार (हि) ही (बादरिः) बादरि मुनि (अभावम्) मुक्ति में अन्य साधनों के अभाव को (आह) कहते हैं ॥१०॥ तथा–

५४२-भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

पदार्थः-(जैमिनिः) जैमिनि मुनि (भावम्) संकल्प मात्र के भाव को कहते हैं । (विकल्पामननात्) संकल्प विकल्पों के आमनन से ॥

यदि पितृलोक की कामना करे, इत्यादि में यदि' लगाया है, यदि न कामना करे, तो कुछ नहीं । इस प्रकार के विकल्प से जैमिनि जी कहते हैं कि संकल्पमात्र के बल का भाव रहता है ॥ ११ ॥

५४३-द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

पदार्थः-(बादरायणः) स्वयं व्यास जी कहते हैं कि (अतः) इस दोनों प्रकार की उक्ति से (उभयविधम्) दोनों प्रकारों को हम मानते हैं (द्वादशाहवत्) जैसे 'द्वादशाह' नाम की इष्टि को 'सत्र' भी कहते हैं, और 'अहीन' भी ॥

इसी प्रकार भौतिक मानसिक संकल्पादि का अभाव और शुद्ध चेतन आत्मा के संकल्पादि का भाव, दोनों ही माननीय हैं ॥ १२ ॥

५४४-तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

पदार्थः-(तन्वभावे) भौतिक शरीर के न रहते हुवे (सन्ध्यवत्) जाग्रत् और सुषुप्ति की सन्धि=स्वप्नावस्था के समान (उपपत्तेः) उपपन्न= सिद्ध होने से-॥ १३ ॥ और-

५४५-भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

पदार्थः-(भावे) सांकल्पिक शरीरों के होने=भाव में (जाग्रद्वत्) जाग्रत् अवस्था के समान उपपन्न होने से ॥ १४ ॥

५४६-प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥१५॥

पदार्थः-(प्रदीपवत्) दीपक के समान (आवेशः) अन्य शरीरों में आवेश कर सकता है (हि) क्योंकि (तथा) इसी प्रकार का (दर्शयति) योगबल वा मेस्मेरिज़्म भी दिखलाता है ॥ १५ ॥

प्रश्नः-समाधि और सुषुप्ति से मुक्ति में क्या अन्तर है ? उत्तर-

५४७-स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

पदार्थः-(स्वाप्ययसंपत्त्योः) सुषुप्ति और योगसम्पत्ति इन दोनों में से (अन्यतरापेक्षम्) किसी एक की अपेक्षा से (आविष्कृतम्) प्रकट ऐश्वर्य (हि) निश्चय है ॥

मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य स्वाप्यय=सुषुप्ति और संपत्ति=योगैश्वर्य की अपेक्षा निराला प्रत्यक्ष है । क्योंकि सुषुप्ति में आनन्द का भोग नहीं, समाधि में यत्न करने तक सिद्धि है,मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य केवल संकल्पमात्र से सिद्ध है ॥१६॥

प्रश्नः—तो क्या मुक्त पुरुष को परमेश्वर की बराबरी प्राप्त हो जाती है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि—

५४८—जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

पदार्थः—(जगद्व्यापारवर्जम्) जगत की उत्पत्ति का व्यापार छोड़ कर अन्य सामर्थ्य सब होता है । क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण से (च) और (असंनिहितत्वात्) संनिधान=व्यापकता न होने से ॥

मुक्तपुरुष के प्रकरण में जगदुत्पत्ति स्थिति प्रलय करने का सामर्थ्य नहीं कहा, तथा जैसे परमात्मा जगत के उपादान में सर्वत्र एकरस संनिहित व्यापक है, वैसे मुक्त पुरुष व्यापक वा संनिहित नहीं, इस लिये मुक्त जीव को यह अधिकार नहीं मिलता ॥ १७ ॥

५४९—प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः॥१८॥

पदार्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (प्रत्यक्षोपदेशात्) स्पष्ट उपदेश से [पाया जाता है कि जगद्व्यापार भी मुक्तपुरुष कर सकता है] सो (न) नहीं, (आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः) अधिकारिमण्डलस्थ ऐश्वर्य का कथन होने से ॥

स्वाराज्यप्राप्ति का तात्पर्य ईश्वरप्रदत्त अधिकार जितने मण्डलों का मुक्त को प्राप्त होता है, उतने पर ही उस को स्वाराज्य मिलता है । अनन्त नहीं ॥ १८ ॥ तथा च—

५५०—विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

पदार्थः—मुक्तपुरुष का ऐश्वर्य (विकारावर्त्ति) विकार से बदलने वाला (च) भी है [परमेश्वर का ऐश्वर्य बदलने वाला नहीं] (तथाहि) इसी प्रकार की (स्थितिम्) दशा को (आह) शास्त्र कहता है ॥

स यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते ॥ छां० ८।१५।१॥

केवल अपनी मुक्ति की आयु (अवधि) पर्यन्त ब्रह्मलोक को पाता है, अवधि के पश्चात् नहीं। इस से भी मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य परमात्मा के बराबर नहीं, विकारी=परिणामी है, नित्य नहीं ॥ १९ ॥ तथा-

५५१-दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

पदार्थः-(च) और (प्रत्यक्षानुमाने) प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों (एवम्) इसी बात को (दर्शयतः) स्पष्ट करते हैं कि-

मुक्ति विकार से बदलने वाली है ॥ २० ॥

५५२-भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

पदार्थः-(भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्) केवल आनन्दोपभोग में समता के लिङ्ग से (च) भी ॥

मुक्त पुरुष का आनन्दभोग ही ईश्वर के समान है, अन्य बातें समान नहीं ॥२१॥

५५३-अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

पदार्थः-(शब्दात्) शब्दप्रमाण से (अनावृत्तिः) बद्ध पुरुषों के सी आवृत्ति=चक्रभ्रमण नहीं होता ॥

अर्थात् विकारावर्त्ति होने पर भी अनावृत्ति को शास्त्र कहता है। इस से बद्ध पुरुषों की आवृत्ति से मुक्तों की आवृत्ति विलक्षण जानो, समान आवृत्ति नहीं। दो बार पाठ अध्याय, पाद और ग्रन्थसमाप्तिसूचनार्थ है ॥ २२ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते
वेदान्तदर्शनभाषानुवादयुते भाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः
॥ ४ ॥

चतुर्थाध्यायः समाप्तः
॥ ४ ॥

समाप्तं चेदं वेदान्तदर्शनम्

इति

पांच दर्शनों का भाष्य

प्रियपाठक! आर्यावर्त्त के भूषण ऋषि मुनियों ने अपने दीर्घकालीन तप और अनुभव के द्वारा पवित्र देववाणी में जिन अमूल्य रत्नों का सङ्गठन किया था, यद्यपि वे अभी तक उस देववाणी की गम्भीर गुहा में यथाक्रम और यथास्थान रक्खे हुवे हैं तथापि ऐसे मनुष्यों के अभाव से जो विचार का दीपक और परिश्रम का कुदाल हाथ में लेकर उन को वहां से निकालें, सर्वसाधारण जन उन की देदीप्यमान ज्योति से वञ्चित हैं। बस सर्वसाधारण तक उन रत्नों का प्रकाश पहुंचाने के लिये यह शुभारम्भ किया है। सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद और व्याख्या करके विद्यारसिक पाठकों की सेवा में समर्पित किया है। इस में प्रथम सूत्र का सरलपदार्थ, पुनः उस का व्याख्यान किया गया है। आशा है कि इस अनुवाद के द्वारा सूत्रकार और भाष्यकारों का आशय समझने में पाठकों को बहुत कुछ सहायता मिलेगी॥

१–न्यायदर्शन बढ़िया कागज़ ॥=)
साधारण कागज़ ॥) जिल्द का –) अधिक
२–योगदर्शन भाषानुवाद, मूल्य ॥)
३–सांख्यदर्शन भाषानुवाद, मूल्य १)
४–वैशेषिकदर्शन भाषानुवाद, मूल्य ॥=)
५–वेदान्तदर्शन भाष्य मूल्य १)
पांचों दर्शनों की एक पुष्ट जिल्द ३॥।–)
गीता–भष्य मूल्य ॥=) सजिल्द ॥।–)

पता–पं० तुलसीराम स्वामी, मेरठ

ओ३म्

वेदान्तसूत्राणाम् अकारादिवर्णानुक्रमसूचीपत्रम्

आ

त

द